॥ PREAMBLE : Chapter Fifteen – The yog of supreme divine personality – Purushottam Yog ॥

Shree Krishna had enlightened Arjun in the previous chapter that by transcending the effects of the three gunas (modes of material nature), one can achieve the divine goal. He also declared that engaging in exclusive devotion is the best means of transcending beyond these gunas. Such devotion is practiced by detaching the mind from the world and attaching it to God alone. Therefore, it is essential to understand both. He has already explained the nature of God in the previous chapters. In this chapter, He explains the material world graphically—so that Arjun can understand its nature and develop detachment from it.

Shree Krishna compares the material world to an upside-down aśhvatth (sacred fig) tree. On the branches of this mysterious tree, the embodied souls wander up and down, from lifetime after lifetime. They are unable to comprehend its origin, age, expanse, or how it continues to grow. However, as God is the source of this tree, its roots face upwards toward the sky. Its leaves are the fruitive activities defined in the Vedas. The three gunas irrigate this tree, which creates the objects of the senses that are like buds on the tree branches. These buds sprout aerial roots that further propagate this aśhvatth tree over a large area.

By describing in detail this symbolism of the upside-down aśhvatth (sacred fig) tree, this chapter conveys the concept of how in ignorance of this tree of material existence, the embodied souls keep growing their bondage in the material world. Shree Krishna declares that if we are searching for the Supreme Lord, then we must first cut this tree of material existence with the axe of detachment. Then we must look for its base because the Supreme Lord Himself is the source of the material world as well. Once we find the source and surrender to Him as advised in this chapter, we will reach the Abode of God forever and never return to this material world.

Shree Krishna then explains that, as the souls are also His eternal fragments, they too are divine. However, they are under the influence of material nature, thus, struggle with their six senses, including the mind. The embodied soul, ignorant of its divine nature, savors the material objects of the senses. He then describes the transmigration of the soul to a new body at the time of death and how it carries with it the mind and senses; from the present and previous lives. The ignorant can neither perceive the presence of the soul in the body when alive nor its departure upon death. However, the yogis see this process clearly with the eyes of knowledge and purity of their minds. Similarly, God is everywhere in His creation; one needs to use the eyes of knowledge to realize His presence.

Lord Krishna reveals that, by recognizing the glories of God that shine forth all around us in this world, we can realize His existence. At the end of this chapter, He explains the terms: kshar, akshar,

and Purushottam. Kshar are the perishable beings residing in the material world. The liberated beings who live in the Abode of God are called akshar. The Supreme Divine Personality, who is the eternal source, sustainer, and regulator of the entire world, is called Purushottam or God. He is transcendental to both imperishable and perishable beings. Therefore, we must worship God with complete surrender.

(Courtesy - for preamble The Songs of GOD by Swami Mukundananda)

।। पँचदशो अध्याय ।। पुरुषोत्तम योग ।।

अध्याय दो में भगवान श्री कृष्ण ने जो ज्ञान अर्जुन को देना शुरू किया था, उस ज्ञान का यह अंतिम अध्याय पुरुषोत्तम योग है, अर्थात इस को जानने के बाद कुछ भी जानना या ज्ञान प्राप्त करना शेष नहीं रहता। गीता के शेष 3 अध्याय पूर्व में दिए ज्ञान की शंका निवारण और विश्लेषण ही है। क्योंकि जो सभी में उत्तम है और सांख्य के अनुसार जो पुरुष है, उस में जो पुरुषोत्तम अर्थात बीज है, वही पुरुषोत्तम है।

१५वें अध्याय का नाम पुरुषोत्तमयोग है। इस में विश्व का अश्वत्थ के रूप में वर्णन किया गया है। यह अश्वत्थ रूपी संसार महान विस्तारवाला है। देश और काल में इसका कोई अंत नहीं है। किंतु इसका जो मूल या केंद्र है, जिसे ऊर्ध्व कहते हैं, वह ब्रह्म ही है एक ओर वह परम तेज, जो विश्वरूपी अश्वत्थ को जन्म देता है, सूर्य और चंद्र के रूप में प्रकट है, दूसरी ओर वही एक एक चैतन्य केंद्र में या प्राणि शरीर में आया हुआ है। जैसा गीता में स्पष्ट कहा है–अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः (१५.१४)। वैश्वानर या प्राणमयी चेतना से बढ़कर और दूसरा रहस्य नहीं है। नर या पुरुष तीन हैं–क्षर, अक्षर और अव्यय। पंचभूतों का नाम क्षर है, प्राण का नाम अक्षर है और मनस्तत्व या चेतना की संज्ञा अव्यय है। इन्हीं तीन नरों की एकत्र स्थिति से मानवी चेतना का जन्म होता है उसे ही ऋषियों ने वैश्वानर अग्नि कहा है। क्षर अर्थात प्रकृति से अक्षर अर्थात पराप्रकृति श्रेष्ठ है और परा प्रकृति से परमात्मा अर्थात पुरुषोत्तम श्रेष्ठ है। इसलिए इस अध्याय में संपूर्ण जगत के कर्ता – हर्ता, सर्वशक्तिमान, सब के नियंता, सर्वव्यापी, अंतर्यामी, परमदयालु, सब के सुहृद, सर्वाधार, शरण लेने योग्य, सगुण परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान के गुण, प्रभाव और स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इस मे सब का आश्रय परमेश्वर बताने के बाद अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान के गुण, प्रभाव और स्वरूप का एवम गुणों से अतीत होने में प्रधान साधन वैराग्य और भगवत शरणागति का वर्णन हम पढेंगे।

इस मे जीव का स्वरूप, मन और इंद्रियाओ के सहित एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश, विषयो के भोग एवम ज्ञानी द्वारा इस को जानने की बात कही है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान और प्रकृति के तीन गुणों के वर्णन के अनुसार हम ने यह तो जान लिया कि न्याय शास्त्र के प्रकृति और सांख्य शास्त्र के प्रकृति और पुरुष के सिद्धांत को नकारते हुए वेदांत के परमात्मा के सिद्धांत के अनुसार प्रकृति और पुरुष मूल एकमेव परमात्मा ही है। अतः यह अध्याय वेदांत के उसी एकमेव परमात्मा का ज्ञान है जो समस्त सृष्टि का संचालन करता है और समस्त सृष्टि का पिता होते हुए भी नित्य, अकर्ता, साक्षी और उदासीन है। परमात्मा के विषय का ज्ञान आठवें अध्याय में अधियज्ञ, अधिदैविक और अध्यात्म के रूप में हम पहले भी पढ़ चुके है। इसी का ज्ञान – विज्ञान स्वरूप में निरूपण हम यहां पढ़ेंगे।

अध्याय का प्रारंभ संसार वृक्ष के आदि, अन्त और प्रतिष्ठा की अनुपलब्धि बतलाकर दृढ़ वैराग्य रूप शस्त्र से काटने की प्रेरणा करते हुए, परम पद स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए उसी आदि पुरुष की शरण ग्रहण करने के लिए कहते हुए किया गया है। इस के लिए उस के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अव्यभिचारिणी भक्ति की बात पूर्व अध्याय में कह कर परमात्मा ने अध्याय समाप्त कर दिया था। इसलिए यह आवश्यक भी है सगुण उपासना में अव्यभिचारिणी भक्ति की उपासना, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से परमात्मा के किस स्वरूप और गुणों का आश्रय ले कर की जाए। परमात्मा स्पष्ट करते है कि परमात्मा के स्वरूप को ज्ञानी ही जान सकते है, जिन का हृदय मलिन है, वह इस ज्ञान एवम स्वरूप को न तो जान सकता है और न ही समझ सकता है। ज्ञानी में भक्त के गुण पहले भी भक्तियोग में बताए है और ज्ञानी के गुण क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के पूर्व कहे हुए है। महाभारत के युद्ध के समय लाखो – करोड़ों की सेना और एक से बढ़ कर एक योद्धाओं के मध्य यह ज्ञान अर्जुन को ही दिया गया, जिस को महऋषि व्यास के द्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टि से घृतराष्ट्र ने भी सुना। आज के आधुनिक युग में यह ज्ञान वीडियो, ऑडियो, पुस्तको एवम प्रवचनों से प्रत्येक जन को उपलब्ध है किंतु अज्ञानी आज भी अपने अज्ञान में इस को धृतराष्ट्र की भांति अपने सांसारिक सुखों के लिए सुनता या पढ़ता है। लाखो में कोई एक इस ज्ञान से प्रेरित हो कर निष्काम कर्म करता है। शेष न तो पढ़ते है और न ही सुनते है। अतः यह अध्याय में पुरुषोत्तम योग को सभी नही समझ पाते किंतु हम सब मिल कर प्रयास तो कर ही सकते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। अध्याय 15 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.1॥

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

"śrī-bhagavān uvāca

ūrdhva-mūlam adhaḥ-śākham

aśvattham prāhur avyayam

chandāṁsi yasya parṇāni

yas taṁ veda sa veda-vit"

भावार्थ :

श्री भगवान बोले– आदिपुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले (आदिपुरुष नारायण वासुदेव भगवान ही नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होने के कारण और सबसे ऊपर नित्यधाम में सगुणरूप से वास करने के कारण ऊर्ध्व नाम से कहे गए हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही इस संसाररूप वृक्ष के कारण हैं, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'ऊर्ध्वमूलवाला' कहते हैं) और ब्रह्मारूप मुख्य शाखा वाले (उस आदिपुरुष परमेश्वर से उत्पत्ति वाला होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा को परमेश्वर की अपेक्षा 'अधः' कहा है और वही इस संसार का विस्तार करने वाला होने से इसकी मुख्य शाखा है, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'अधःशाखा वाला' कहते हैं) जिस संसार रूप पीपल वृक्ष को अविनाशी (इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकाल से इसकी परम्परा चली आती है, इसलिए इस संसार वृक्ष को 'अविनाशी' कहते हैं) कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते (इस वृक्ष की शाखा रूप ब्रह्मा से प्रकट होने वाले और यज्ञादि कर्मों द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करने वाले एवं शोभा को बढ़ाने वाले होने से वेद 'पत्ते' कहे गए हैं) कहे गए हैं, उस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूलसहित सत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। (भगवान् की योगमाया से उत्पन्न हुआ संसार क्षणभंगुर, नाशवान और दुःखरूप है, इसके चिन्तन को त्याग कर केवल परमेश्वर ही नित्य–निरन्तर, अनन्य प्रेम से चिन्तन करना 'वेद के तात्पर्य को जानना' है)

॥१॥

Meaning:

Shree Bhagavaan said:

With roots above and branches below, the Ashvattha tree is said to be imperishable, with the Vedas as its leaves. He who knows this, knows the Vedas.

Explanation:

Shri Krishna begins the fifteenth chapter describing an unusual sort of tree. It is "oordhvamoolam adhahashaakham". It is upside down, with roots above and branches below. It is not as unusual as it sounds, because we encounter several trees that are inverted in our lives. A family tree, the map of an organization with the CEO on top, a decision tree in management sciences, all of these trees are upside down, with their root on top and branches below.

Such inverted trees have some interesting characteristics. The farther away one goes from the root, the greater is the loss of the substance or the essence. A junior employee has far less power than the CEO in an org chart, for instance. Also, these trees are never static. They keep changing. Hence, the tree described in this illustration is called "ashvattha", which means not lasting for long. This is also the name of the tree known as ficus religiosa, or the Peepul tree in India.

Now, let us examine the metaphors used in this illustration. The root of this tree is Ishvara, the saguna brahman, the eternal essence with form. Its branches have evolved from Ishvara, and are nothing but the hardening of Prakriti, the hardening of the three gunas due to their permutations and combinations. The process of the creation of the universe has been explained in detail in prior chapters. It is similar to a tender, subtle sapling hardening into a robust tree as it grows over time. It is termed as avyayam or imperishable because it is permanent after its reality has been ascertained, like the illusion of the blue sky. Even when we come to know that the sky is not really blue, but just looks that way, we still perceive the illusion.

In any complex system, there are rules that tell how what to do and what not to do. The Vedas are the rules of this universe, and are metaphorically represented as the leaves of this ashvattha tree. Just like there are rules on how to get promoted in a corporation, there are rules in the Vedas that give us instructions on how to act in life, and how not to commit sins or errors. They are the storehouse of knowledge and actions needed to thrive in this world. One who knows the functioning of the universe in this manner, one who knows how to get to the source which is Ishvara, needs to know nothing else.

We now come to the fundamental question. Why has Shri Krishna started talking about this tree now? It is to cultivate dispassion or vairagya in us. Even a tinge of attachment to the world can derail our spiritual progress. Over the next few shlokas, we will learn more about this tree so that we can understand our entanglement in it, and consequently, learn how to release ourselves from it through dispassion.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम पांच श्लोक में ब्रह्मवृक्ष अर्थात संसार –वृक्ष का वर्णन है। यहाँ पर संसार का यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है कि स्त्री–बाल–बच्चों में रह कर नित्य व्यवहार करते रहे। परंतु उस का यहाँ आंखों के सामने दिखाई देने वाला जगत अथवा दृश्य सृष्टि अर्थ है। इस संसार को ही सांख्य मतवादी " प्रकृति का विस्तार " और वेदांती " भगवान की माया का पसार " कहते है।

अनुगीता में इसे ही ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन (ब्रह्मारण्य) कहा है। यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्म मे ही है, कि प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मो में भी पाया जाता है, एक बिल्कुल छोटे से बीज से जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुंबी वृक्ष निर्माण हो जाता है। उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वर से दृश्य सृष्टि भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है।

गीता में यह वर्णन कठोपनिषद के वर्णन से लिया है। परमेश्वर स्वर्ग में है और उस से उपजा हुआ जगद वृक्ष नीचे अर्थात मनुष्य लोक में है, अतः वर्णन किया गया है, कि इस वृक्ष का मूल परमात्मा ऊपर है और उसकी अनेक शाखाएँ अर्थात जगत का फैलाव नीचे विस्तृत है।

यूरोप की पुरानी भाषाओं में इस का नाम विश्व वृक्ष या जगतवृक्ष है। इस प्रकार ऋग्वेद में भी वरुण लोक के अलौकिक वृक्ष का वर्णन है।

विष्णुसहस्त्रनाम में इस को वारुणो वृक्ष कह कर विष्णु का नाम दिया है। ऋग्वेद वेद में यम एवम पितर जिस सुपलाक्ष वृक्ष के नीचे बैठ कर सहपान करते है एवम जिस से अग्र भाग में स्वादिष्ट पीपल है, जिस पर दो सुपर्ण पक्षी रहते है एवम जिसे मरुदगण हिलाते है वह भी यही है।

अर्थववेद में देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोक अर्थात वरुण लोक में है।

तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा जाता है कि पितृयाण काल मे यज्ञ प्रजापति देवलोक से नष्ट हो कर घोड़े के रूप में एक वर्ष इस वृक्ष में छिपा रहा, इसलिये यह अश्वत्थ वृक्ष कहलाया। एक अन्य मत के अनुसार सूर्य के घोडे यम लोक में रात्रि में इस वृक्ष के नीचे विश्राम करते थे।

अ=नही, श्व=कल और त्थ= स्थिर अर्थात जो कल तक नही रहने वाला है, किन्तु अव्यय शब्द का अर्थ होता है जो कभी नही मिटता। यह संसार नित्य परिवर्तनशील है, हर क्षण मिट रहा है किंतु फिर भी अव्यय है अर्थात पुनः पुनः स्थापित होता है। इसलिये हर क्षण परिवर्तनशील संसार हमे अव्यय अर्थात स्थिर या निरंतर दिखता है। इस

संसार मे जो भी दिखता है, वह प्रत्येक क्षण बदल जाता है, इसलिये कठोपनिषद में इसे ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है।

कुछ लोग कहते है कि यह परमब्रह्म का वृक्ष है और जैसे तालाब में किनारे खड़ा वृक्ष में मूल ऊपर एवम पत्ते नीचे प्रतिबिम्ब में दिखता है, वैसे ही यह संसार के रूप में प्रतिबिम्ब दिखता है। जो प्रकृति से गुणों से युक्त है एवम आसक्त है वह पुनः पुनः जन्म लेता है जिस के कारण उस को यह अव्यय स्वरूप में लगता है एवम जो गुणातीत को कर अव्याभिचारणी भक्ति में लगा है वह इस प्रतिबिम्ब को समझ जाता है एवम परब्रह्म को प्राप्त होता है।

किसी परिवार या व्यावसायिक प्रतिष्ठान का संचालन व्यवस्था में सब से ऊपर पूर्वज, फिर दादा, पिता, आप स्वयं एवम नीचे पुत्र–पुत्री एवम पोते–पोती आदि होते है, अतः परिवार का मूल ऊपर की ओर एवम उस का फैलाव नीचे होता है। ऐसे ही व्यापारिक संगठन में मालिक– CEO- मैनेजर, अफसर –क्लर्क – कर्मचारी और वर्कर्स होते है, जिस का मूल ऊपर की ओर एवम वैसे ही अधिकार एवम दायित्व भी ऊपर से नीचे आता है। उन्नति का अर्थ के कालांतर में मेहनत से मूल की ओर बढ़ना।

यहाँ पहले वैराग्य के लिये वृक्षस्वरूप की कल्पना कर के, संसार के स्वरूप का वर्णन करते हैं क्योंकि संसार से विरक्त हुए पुरुष को ही भगवान् का तत्त्व जानने में अधिकार है, अन्य को नहीं। वृक्ष संसार का स्वरूप है।

अतः श्रीभगवान् कहते है , यह संसाररूप वृक्ष ऊर्ध्वमूलवाला है। कालकी अपेक्षा भी सूक्ष्म, सब का कारण, नित्य और महान् होने के कारण अव्यक्तमायाशक्तियुक्त ब्रह्म सबसे ऊँचा कहा जाता है, वही इस का मूल है इसलिये यह संसार वृक्ष ऊपर की ओर मूलवाला है। ऊपर मूल और नीचे शाखावाला इस श्रुति से भी यही प्रमाणित होता है। पुराण में भी कहा है, अव्यक्तरूप मूल से उत्पन्न हुआ उसी के अनुग्रह से बढ़ा हुआ, बुद्धिरूप प्रधान शाखा से युक्त, बीचबीच में इन्द्रियरूप कोटरोंवाला, महाभूतरूप शाखा प्रति शाखाओंवाला, विषयरूप पत्तोंवाला, धर्म और अधर्मरूप सुन्दर पुष्पोंवाला तथा जिसमें सुख दुःखरूप फल लगे हुए हैं ऐसा यह सब भूतों का आजीव्य सनातन ब्रह्मवृक्ष है। यही ब्रह्मवन है, इसी में ब्रह्म सदा रहता है। ऐसे इसी ब्रह्मवृक्ष का ज्ञानरूप श्रेष्ठ खड्गद्वारा छेदनभेदन कर के और आत्मा में प्रीतिलाभ कर के फिर वहाँ से नहीं लौटता इत्यादि।

ऐसे ऊपर मूल और नीचे शाखावाले इस मायामय संसार वृक्ष को, अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रादि, शाखाकी भाँति जिस के नीचे हैं। ऐसे इस नीचे की ओर शाखावाले और कल तक भी न रहने वाले इस क्षणभङ्गुर अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय कहते हैं। यह मायामय संसार, अनादि कालसे चला आ रहा है, इसीसे यह संसारवृक्ष अव्यय माना जाता है तथा यह आदिअन्तसे रहित शरीर आदि की परम्पराका आश्रय सुप्रसिद्ध है, अतः इस को अव्यय कहते हैं। उस संसारवृक्ष का ही यह अन्य विशेषण (कहा जाता) है। ऋक् यजु और सामरूप वेद, जिस संसार वृक्ष के पत्तों की भाँति रक्षा करने वाले होने से पत्ते हैं। जैसे पत्ते वृक्ष की रक्षा करनेवाले होते हैं, वैसे ही वेद धर्म अधर्म, उनके कारण और फल को प्रकाशित करने वाले होने से, संसाररूप वृक्ष की रक्षा करने वाले हैं। ऐसा जो यह विस्तारपूर्वक बतलाया हुआ संसारवृक्ष है।

इसको जो मूलके सहित जानता है। वह वेद को जाननेवाला अर्थात् वेद के अर्थ को जाननेवाला है। क्योंकि इस मूलसहित संसार वृक्ष से अतिरिक्त अन्य जानने योग्य वस्तु अणुमात्र भी नहीं है। सुतरां जो इस प्रकार वेदार्थ को जाननेवाला है वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार मूलसहित संसारवृक्ष के ज्ञानकी स्तुति करते हैं। उसी संसारवृक्षके अन्य अङ्गोंकी कल्पना कही जाती है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.01।।

।। ब्रह्म ज्ञान का अध्ययन और हम।। विशेष गीता 15.01 ।।

पूर्व के अध्याय में हम ने विभिन्न योग निष्काम कर्म योग, सांख्य या ज्ञान योग, बुद्धि योग और भक्ति योग के विषय में विस्तार से पढ़ा। अर्जुन के माध्यम से परमात्मा को उन की विभिन्न विभूतियों और प्रत्यक्ष दर्शन दिव्य दृष्टि से प्राप्त किए। ज्ञान की दृष्टि से क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ एवम प्रकृति –पुरुष, प्रकृति के त्रय गुण विभाग आदि पढ़ने के बाद उस ब्रह्म स्वरूप बीज का ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिए इस अध्याय का सूत्र पात किया गया।

कुछ लोग कहते है कि अगले तीन दिन किसी विपत्ति को टालने के लिए अध्याय 14 का पाठ करना चाहिए। अध्याय 14 आत्म ज्ञान का पाठ है किंतु अध्याय 15 बीज स्वरूप पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान है इसलिए यह अध्याय नियमित पाठ के सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह अध्याय परमात्मा के स्वरूप को वर्णित करता है, इसलिए 20 श्लोको में सिमटा, इस के प्रत्येक श्लोक को मंत्र भी कहते है। मेरे कथन का उद्देश्य यह कदापि नहीं है, पाठ अध्याय 14 की बजाए अध्याय 15 का पाठ करना चाहिए। क्योंकि बिना एक से चौदह पाठ को पढ़े, कोई इस पाठ को समझ नही सकता और बिना चिंतन और मनन के कोई भी पाठ को पढ़ने का कोई लाभ भी नही है।

संपूर्ण दृश्य सृष्टि में हम जो अनुभव करते है उस में प्रकृति के द्वारा नियमित जीवन और सामाजिक जीवन अधिक है। मनुष्य ने अपनी सुविधा से परमात्मा को भी अपने विचारो से विभिन्न मतों में बांट लिया है। रहने के लिए प्रकृति निष्पक्ष और निरंतर क्रिया शील होने के बावजूद मनुष्य ने अपना देश राज्य, प्रांत, घर के अतिरिक्त धर्म, जाति और विचारो से अलग अलग ही नही किया वरन इस के अनेक युद्ध करते हुए मार काट, लूट पाट और भूमि के उस टुकड़े पर अधिकार जमाने की कोशिश की, जो उस का है ही नही। लाखो – सैंकड़ों लोग आए और खाली हाथ चले भी गए, किंतु इस ब्रह्म ज्ञान को समझने में भूल करते गए। इसलिए वेदांत में यह सब दृश्य सृष्टि परमात्मा की योगमाया का माया जाल है, और जो इस से परे है, उस को जानना ही ब्रह्म ज्ञान है। इसलिए उस को एक वृक्ष की भांति कल्पना करते हुए यह दर्शाया गया है किस प्रकार एक नष्ट न होने वाले बीज से यह संपूर्ण सृष्टि की रचना होती है और किस प्रकार पुनः बीज में बदल जाती है।

अभी तक जो ज्ञान हमने पढ़ा, वह विज्ञान का भी ज्ञान है, इसलिए विज्ञान उस ज्ञान की बारीकी का अध्ययन भी करता है और शनैः शनैः प्रमाणित भी करता है। किंतु ब्रह्म का ज्ञान विज्ञान का हिस्सा नहीं है। इसलिए इस में जो भी हम पढ़ेंगे वह ज्ञान के अनुभव का हिस्सा ही है, परंतु जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सब एक ही हो तो कौन किस को ज्ञान देगा कौन किस से ज्ञान प्राप्त करेगा और क्यों जानने को शेष रहेगा। इसलिए इस ब्रह्मज्ञान के अध्याय के बाद ज्ञान को अधिक जानने का विषय भी नही रहता और इस के बाद गीता, पूर्व में दिए ज्ञान – विज्ञान के विषय को ही अगले तीन अध्याय में विस्तार से कहती है।

पातंजली योग में योग से सयंम् तक, भक्ति में भजन कीर्तन से पूर्ण समर्पण तक और निष्काम कर्म योग में वर्णानुसार अपने कर्तव्य कर्म के पालन की जो बाते हम ने पढ़ी है या सीखी है, उस के माया जाल में मनुष्य जीवन भर फस कर ज्ञान, ध्यान, भजन, कीर्तन, योग, कथा, पूजा – पाठ आदि करता रहता है और आज के सोशल मीडिया में परमात्मा के चित्र, कथाएं, मंत्र, उपदेश और कर्म काण्ड विधि को प्रसारित भी करता रहता है।

ब्रह्म को प्राप्त करना, जानना और उस में विलीन हो जाना ही मनुष्य या जीव का लक्ष्य है, इसलिए इस ब्रह्म ज्ञान को यद्यपि उन लोगो ने बताया है, जो ब्रह्मविद या ब्रह्मसंन्ध हुए, किंतु जैसे ही वो ब्रह्म में लीन हुए तो शून्य के अतिरिक्त कुछ नही है अर्थात स्वर्ग का दरवाजा खोल भी यदि दिया है, तो प्रवेश स्वयं को ही करना होगा और जो प्रवेश करेगा, वह पुनः लौट कर बताने नहीं आता।

हिंदू अर्थात सनातन धर्म में उदारवादिता, विचारो की स्वतंत्रता, अन्य सभी धर्मो के प्रति सम्मान और उन की ग्राह्य बातो की स्वीकृति के रहते, इस धर्म के लोगो में धर्म के प्रति न केवल कट्टरता या मतांधता का अभाव हो गया बल्कि स्वार्थ, लोभ और अहंकार के दुर्गुणों के रहते, अपने अपने हिसाब से धर्म की व्याख्या भी की गई। लोगो ने धर्म के कर्मकांडो, यज्ञ और वेद के नियम भी अपनी सुविधा से बिना मूल तत्व को समझे, एक सामाजिक प्रक्रिया में बदल कर करना शुरू कर दिया। स्वार्थ – लोभ में अन्य मतों के कट्टर लोगो में इस के उदारवादिता का लाभ उठाया, इस के नियम ग्रंथ भी भ्रष्ट करने का कार्य भी किया। किंतु जिस ज्ञान की नीव हमारे ऋषि – मुनियों ने सनातन सत्य पर रखी, वह अटल है, इसलिए यह विचार धारा समय समय पर नाश किए जाने के बाद भी, पुनः जीवित हो जाती है। इसलिए उसी सनातन सत्य के ज्ञान को हम ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप में पढ़ेंगे।

मनुष्य में तामसी गुण स्वावाभिक है, इस के लिए कुछ भी करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। विषय समझने में थोड़ा भी गंभीर हो तो ज्यादा प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती और हम विषय को गहराई से समझने की बजाए, जितना समझते है, उसी में स्वयं को पंडित मान कर तर्क भी कर लेते है और ज्ञान भी बाटने लगते है। प्रकृति की यह स्वावाभिक प्रवृति के कारण योगमाया अपना विस्तार इस सृष्टि में गीता जैसे अनेक महान ग्रंथ के रहते भी, सरलता से करती है। क्योंकि अन्य कोई धर्म में उदारता इतनी अधिक नही है, इसलिए उन के विषय में बात भी करने का अधिकार भी नही है। ब्रह्म ज्ञान के लिए इस तामसी प्रवृति का भी त्याग आवश्यक है।

अतः इस ज्ञान के विषय में जो भी अध्याय में कहा गया है, गंभीरता से पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। गीता विशेष 15.01 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.2॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

"adhaś cordhvaṁ prasṛtās tasya śākhā

guṇa-pravṛddhā viṣaya-pravālāḥ

adhaś ca mūlāny anusantatāni

karmānubandhīni manuṣya-loke"

भावार्थ :

उस संसार वृक्ष की तीनों गुणोंरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय–भोग रूप कोंपलोंवाली (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध –ये पाँचों स्थूलदेह और इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण उन शाखाओं की 'कोंपलों' के रूप में कहे गए हैं।) देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ (मुख्य शाखा रूप ब्रह्मा से सम्पूर्ण लोकों सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिए उनका यहाँ 'शाखाओं' के रूप में वर्णन किया है) नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्य लोक में (अहंता, ममता और वासनारूप मूलों को केवल मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार बाँधने वाली कहने का कारण यह है कि अन्य सब योनियों में तो केवल पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगने का ही अधिकार है और मनुष्य योनि में नवीन कर्मों के करने का भी अधिकार है) कर्मों के अनुसार बाँधने वाली अहंता–ममता और वासना रूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।

॥२॥

Meaning:

Its branches are spread below and above, nourished by the gunas. Sense objects are its sprouts, and, below in the human realm, stretch its roots that bind through actions.

Explanation:

Shri Krishna began describing an upside-down tree as a metaphor for the material world in the prior shloka. Here, he continues to describe it in more detail. When its buds or sprouts grown into branches and touch the ground, they turn into roots that embed firmly into the ground, and then grow into several additional trunks around the main tree. Such gigantic tree structures are common in the Banyan tree family. Over a period of time, a small tree with one trunk becomes a mini forest in itself.

Our lives are no different. For many people, the American dream comprises owning a large house, two cars, good schools for children, a big screen TV and so on. First, the newly married family takes out a big loan to buy a house. The house is empty, so it needs furniture and appliances. The garage is empty, so two cars need to be purchased. The living room is empty, so a large screen TV is needed. The TV requires a cable connection, a DVD player, a Playstation and so on endlessly. The one purchase of a house led to other purchases, which led to other purchases and so on. This is nothing but the upside down tree of samsaara playing out in our lives.

So this tree of samsaara, made up of the three gunas of Prakriti, grows and expands through repetitive chasing of sense objects. Each sense object generates desires, desires generate actions to get those sense objects, and attainment of sense objects creates further desires. Actions bind us by making us giving importance to the branches of the tree, by making us run away from Ishvara, who is at the root of the tree. How do we tackle this problem? Shri Krishna gives the solution in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सामान्य तौर पर गीता में यह अश्वत्थव वृक्ष के बारे में ऋग्वेद से लिखा जाने के कारण पीपल का पेड़ माना गया है। प्राचीन ग्रंथो में यह भी माना गया है कि यह संसार वृक्ष वटवृक्ष होगा, पीपल का नहीं। वट वृक्ष के पाए ऊपर से नीचे को बढ़ते है। महाभारत में लिखा है कि मार्कडेय ऋषि ने प्रलयकाल में बाल रूपी परमेश्वर को एक उस प्रलयकाल में भी न नष्ट होने वाले अव्यय न्यग्रोध अर्थात बड़ के पेड़ की शाखा पर देखा था। छान्दोग्य में अव्यक्त परमेश्वर से अपार दृश्य जगत का निर्माण के जो दृष्टांत दिया गया है, वह न्यग्रोध के बीज अर्थात बट वृक्ष का है।

श्वेताश्वतर उपनिषद एवम मुंडक उपनिषद ने ऋग्वेद से उदरण लिया है अतः इसे पीपल का ही पेड़ माना है।

इस के अतिरिक्त दत्तात्रेय के वृक्ष के रूप में तीसरा नाम औदुम्बर वृक्ष का है। अतः हम कह सकते है ये तीनो कल्पनाएं है कि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुआ जगत एक बड़ा पीपल, बड़ या औदुम्बर है, इसलिये विष्णुसहस्त्रनाम में न्यग्रोधोदम्बरोऽश्वत्थ नाम विष्णु का दिया है। विष्णुसहस्त्रनाम एवम गीता दोनों ही महाभारत के हिस्से है किंतु यहाँ हम अपने वर्णन में पीपल का वृक्ष ही मानते है।

सृष्टि की यह परिकल्पना वृक्ष के रूप में की गई है। इस श्लोक में वृक्ष रूपक से प्रथम ब्रह्मा, फिर वायुलोक, चंद्रलोक, विद्युतलोक, सूर्यलोक, वरुण लोक, इंद्रलोक एवम मूल में सब से ऊपर ब्रह्मलोक है जहाँ आदि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। यहाँ गन्धर्व, यक्ष, पितर देवादि रहते है। नीचे मनुष्य, पशु, कीटादि देह रूप में है। यह प्रकृति के तीन गुणों जिन्हें मूसल भी कहा गया है, से बढ़ता है एवम शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवम गंध पांच विषय है। यह सब पांच कर्म इंद्रियाओ और पांच ज्ञान इंद्रियाओ एवम नव द्वार और दस प्रकार की वायु से विकसित है। सुख–दुख इस के दो फल है।

जैसे जैसे जीव की उन्नति होती है वह ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। परंतु ब्रह्म लोक से लेकर नीचे तक सब अनित्य होते हुए भी चिर काल से चला आ रहा है। मूलतः वृक्ष के माध्यम से यह ही बताया जा रहा पाताल लोक से ब्रह्मलोक तक यह प्रकृति फैली हुई है, लोक इन की शाखाएं है, एवम समस्त प्राणी प्रकृति की त्रियामी गुणों की रचना है। सभी अपने कर्मो से अहम, ममता एवम वासना से बंधे है। यह वृक्ष इतना विशाल है कि इसके आदि, अंत एवम मध्य को जानना असंभव सा है। इसलिये यह माया जाल ही है।

वेदों की शैली ही लक्षणात्मक है। दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए जगत् की किसी उपयुक्त वस्तु का वर्णन ऐसी काव्यात्मक शैली में करना, जिससे धर्म के गूढ़ सन्देश या अभिप्राय का बोध कराया जा सके, लक्षणात्मक शैली कही जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस वृक्ष की शाखाएं ऊपर और नीचे फैली हुईं हैं। इनसे तात्पर्य देवता, मनुष्य, पशु इत्यादि योनियों से है। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा जगत् के विकास की दिशा कभी उन्नति की ओर होती है, किन्तु प्राय यह पशु जीवन के निम्न स्तर की ओर रहती है।

प्रकृति के तीनो गुण जीव के अंदर रहते है एवम बाहर विषय का संग रहता है। इसलिये जीव अपने अपने गुणों से बाह्य विषयो में रुचि एवम प्रवृति विकसित करता है। फिर उस रुचि व प्रवृति के अनुसार ही इस जीव के वैसी वैसी योनि की प्राप्ति होती है। इसप्रकार गुण तो इन योनि रूप शाखाओं की वृद्धि करते है एवम बाह्य विषय अपनी आसक्ति द्वारा इन शाखाओं को परिपक्क करते है।

अध और ऊर्ध्व इन दो शब्दों से इन्हीं दो दिशाओं अथवा प्रवृत्तियों की ओर निर्देश किया गया है।गुणों से प्रवृद्ध हुई जीवों की ऊर्ध्व या अधोगामी प्रवृत्तियों का धारण पोषण प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के द्वारा किया जाता है। इन गुणों का विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

किसी भी वृक्ष की शाखाओं पर हम अंकुर या कोपलें देख सकते हैं जहाँ से अवसर पाकर नईनई शाखाएं फूटकर निकलती हैं। प्रस्तुत रूपक में इन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि विषयों को प्रवाल अर्थात् अंकुर कहा गया है। यह सुविदित तथ्य है कि विषयों की उपस्थिति में हम अपने उच्च आदर्शों को विस्मृत कर विषयाभिमुख हो जाते हैं। तत्पश्चात् उन भोगों की पूर्ति के लिये उन्मत्त होकर नये नये कर्म करते हैं। अत विषयों को प्रवाल कहना समीचीन है।

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस वृक्ष की गौण जड़ें नीचे फैली हुई हैं। परमात्मा तो इस संसार वृक्ष का अधिष्ठान होने से इसका मुख्य मूल है किन्तु इसकी अन्य जड़े भी हैं , जो इस वृक्ष का अस्तित्व बनाये रखती हैं। मनुष्य देह में यह जीव असंख्य प्रकार के कर्म और कर्मफल का भोग करता है, जिसके फलस्वरूप उसके मन में नये संस्कार या वासनाएं अंकित होती जाती हैं। ये वासनाएं ही अन्य जड़ें हैं, जो मनुष्य को अपनी अभिव्यक्ति के लिये कर्मों में प्रेरित करती रहती हैं। शुभ और अशुभ कर्मों का कारण भी ये वासनाएं ही हैं। जैसा कि लोक में हम देखते हैं, वृक्ष की ये अन्य जड़ें ऊपर से नीचे पृथ्वी में प्रवेश कर वृक्ष को दृढ़ता से स्थिर कर देती हैं, वैसे ही ये संस्कार शुभाशुभ कर्म और कर्मफल को उत्पन्न कर मनुष्य को इस लोक के राग और द्वेष, लाभ और हानि, आय और व्यय आदि प्रवृत्तियों के साथ बाँध देते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.02।।

।। स्वामी रामसुख दास जी द्वारा व्याख्या ।। विशेष 15.02 ।।

संसार वृक्ष को समझने के लिए, स्वामी रामदास जी सरल व्याख्या की है, उसे भी पढ़ने से यह अधिक ग्राह्य हो सकता है।

तस्य शाखा गुणप्रवृद्धाः – संसार वृक्ष की मुख्य शाखा ब्रह्मा है। ब्रह्मा से सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है। इसलिये ब्रह्मलोक से पाताल तक जितने भी लोक तथा उन में रहनेवाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वे सभी संसार वृक्ष की शाखाएँ हैं। जिस प्रकार जल सींचने से वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जल के सङ्ग से इस संसार वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं। इसीलिये भगवान् ने जीवात्मा के ऊँच, मध्य और नीच योनियों में जन्म लेने का कारण गुणों का सङ्ग ही बताया है । सम्पूर्ण सृष्टि में ऐसा कोई देश, वस्तु, व्यक्ति नहीं, जो प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से रहित हो। इसलिये गुणों के सम्बन्ध से ही संसार की स्थिति है। गुणों की अनुभूति गुणों से उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थों के द्वारा होती है। अतः वृत्तियों तथा पदार्थों से माने हुए सम्बन्ध का त्याग कराने के लिये ही गुणप्रवृद्धाः पद देकर भगवान् ने यहाँ यह बताया है कि जबतक गुणों से किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध है, तब तक संसार वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती ही रहेंगी। अतः संसार वृक्ष का छेदन करने के लिये गुणों का सङ्ग किञ्चिन्मात्र भी नहीं रखना चाहिये क्योंकि गुणों का सङ्ग रहते हुए संसार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता ।

विषयप्रवालाः –– जिस प्रकार शाखा से निकलनेवाली नयी कोमल पत्ती के डंठल से लेकर पत्ती के अग्रभाग तक को प्रवाल (कोंपल) कहा जाता है, उसी प्रकार गुणों की वृत्तियों से लेकर दृश्य पदार्थ मात्र को यहाँ, विषयप्रवालाः कहा गया है। वृक्ष के मूल से तना (मुख्य शाखा), तने से शाखाएँ और शाखाओँ से कोंपलें फूटती हैं और कोंपलों से शाखाएँ आगे बढ़ती हैं। इस संसार वृक्ष में विषयचिन्तन ही कोंपलें हैं। विषयचिन्तन तीनों गुणों से होता है। जिस प्रकार गुण रूप जल से संसार वृक्ष की शाखाएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जल से विषयरूप कोंपलें भी बढ़ती हैं। जैसे कोंपलें दीखती हैं, उन में व्याप्त जल नहीं दीखता, ऐसे ही शब्दादि विषय तो दीखते हैं, पर उन में गुण नहीं दीखते। अतः विषयों से ही गुण जाने जाते हैं। विषयप्रवालाः पदका भाव यह प्रतीत होता है कि विषयचिन्तन करते हुए मनुष्यका संसार से सम्बन्धविच्छेद नहीं हो सकता। अन्तकाल में मनुष्य जिस जिस भाव का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, उस उस भाव को ही प्राप्त होता है – यही विषयरूप कोंपलों का फूटना है।

कोंपलों की तरह विषय भी देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिस से मनुष्य उन में आकर्षित हो जाता है। साधक अपने विवेक से परिणाम पर विचार करते हुए इन को क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप जान कर इन विषयों का सुगमतापूर्वक त्याग कर सकता है। विषयों में सौन्दर्य और आकर्षण अपने राग के कारण ही दीखता है, वास्तव में वे सुन्दर और आकर्षक है नहीं। इसलिये विषयों में राग का त्याग ही वास्तविक त्याग है। जैसे कोमल कोंपलों को नष्ट करने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही इन विषयों के त्याग में भी साधक को कठिनता नहीं माननी चाहिये। मन से आदर देने पर ही ये विषय रूप कोंपलें सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, वास्तव में तो ये विषयुक्त लड्डू के समान ही हैं। इसलिये इस संसार वृक्ष का छेदन करने के लिये भोगबुद्धिपूर्वक विषय चिन्तन एवं विषय सेवन का सर्वथा त्याग करना आवश्यक है। अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः – यहाँ च पद को मध्यलोक अर्थात् मनुष्य लोक (इसी श्लोक के मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि,पदों) का वाचक समझना चाहिये। ऊर्ध्वम् पद का तात्पर्य ब्रह्मलोक आदि से है, जिस में जाने के दो मार्ग हैं – देवयान और पितृयान (जिसका वर्णन आठवें अध्याय के चौबीसवें पचीसवें श्लोकों में शुक्ल और कृष्णमार्गके नामसे हुआ है)। अधः पद का तात्पर्य नरकों से है, जिस के भी दो भेद हैं –– योनि विशेष नरक और स्थान विशेष नरक। इन पदों से यह कहा गया है कि ऊर्ध्वमूल परमात्मा से नीचे, संसार वृक्ष की शाखाएँ नीचे, मध्य और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इस में मनुष्य योनि रूप शाखा ही मूल शाखा है क्योंकि मनुष्य योनि में नवीन कर्मों को करने का अधिकार है। अन्य शाखाएँ भोग योनियाँ हैं, जिन में केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने का ही अधिकार है। इस मनुष्य योनि रूप मूल शाखा से मनुष्य नीचे (अधोलोक) तथा ऊपर (ऊर्ध्वलोक) – दोनों ओर जा सकता है और संसार वृक्ष का छेदन करके सबसे ऊर्ध्व (परमात्मा) तक भी जा सकता है। मनुष्य शरीर में ऐसा विवेक है, जिस को महत्त्व देकर जीव परमधाम तक पहुँच सकता है और अविवेकपूर्वक विषयों का सेवन कर के नरकों में भी जा सकता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है – नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।

ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके – मनुष्य के अतिरिक्त दूसरी सब भोग योनियाँ हैं। मनुष्य योनि में किये हुए पाप पुण्यों का फल भोगने के लिये ही मनुष्य को दूसरी योनियों में जाना पड़ता है। नये पाप पुण्य करने का अथवा पापपुण्य से रहित होकर मुक्त होने का अधिकार और अवसर मनुष्य शरीर में ही है।

यहाँ मूलानि पद का तात्पर्य तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल से है, वास्तविक ऊर्ध्वमूल परमात्मा से नहीं। मैं शरीर हूँ – ऐसा मानना तादात्म्य है। शरीरादि पदार्थों को अपना मानना ममता है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा – ये तीन प्रकार की मुख्य कामनाएँ हैं। पुत्र परिवार की कामना पुत्रैषणा और धनसम्पत्ति की कामना वित्तैषणा है। संसार में मेरा मान आदर हो जाय, मैं बना रहू, शरीर नीरोग रहे, मैं शास्त्रों का पण्डित बन जाऊँ आदि अनेक कामनाएँ लोकैषणा के अन्तर्गत हैं। इतना ही नहीं कीर्ति की कामना मरने के बाद भी इस रूप में रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करते रहें मेरा स्मारक बन जाय मेरी स्मृति में पुस्तकें बन जायँ लोग मुझे याद करें, आदि। यद्यपि कामनाएँ प्रायः सभी योनियों में न्यूनाधिकरूपसे रहती हैं, तथापि वे मनुष्य योनि में ही बाँधने वाली होती हैं। जब कामनाओं से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है, तब उन कर्मों के संस्कार उस के अन्तःकरण में संचित होकर भावी जन्म मरण के कारण बन जाते हैं। मनुष्य योनि में किये हुए कर्मों का फल इस जन्म में तथा मरने के बाद भी अवश्य भोगना पड़ता है। अतः तादात्म्य, ममता और कामना के रहते हुए कर्मों से सम्बन्ध नहीं छूट सकता। यह नियम है कि जहाँ से बन्धन होता है, वहीं से छुटकारा होता है जैसे – रस्सी की गाँठ जहाँ लगी है, वहीं से वह खुलती है। मनुष्य योनि में ही जीव शुभाशुभ कर्मों से बँधता है अतः मनुष्य योनि में ही वह मुक्त हो सकता है। पहले श्लोक में आये ऊर्ध्वमूलम् पद का तात्पर्य है – परमात्मा, जो संसार के रचयिता तथा उस के मूल आधार हैं और यहाँ मूलानि पद का तात्पर्य है – तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल, जो संसार में मनुष्य को बाँधते हैं। साधक को इन (तादात्म्य, ममता और कामनारूप) मूलों का तो छेदन करना है और ऊर्ध्वमूल परमात्मा का आश्रय लेना है, जिसका उल्लेख तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये पद से इसी अध्याय के चौथे श्लोक में हुआ है। मनुष्यलोक में कर्मानुसार बाँधनेवाले तादात्म्य, ममता और कामनारूप मूल नीचे और ऊपर सभी लोकों, योनियों में व्याप्त हो रहे हैं। पशुपक्षियों का भी अपने शरीर से तादात्म्य रहता है, अपनी सन्तान में ममता होती है और भूख लगने पर खाने के लिये अच्छे पदार्थों की कामना होती है। ऐसे ही देवताओं में भी अपने दिव्य शरीर से तादात्म्य, प्राप्त पदार्थों में ममता और अप्राप्त भोगों की कामना रहती है। इस प्रकार तादात्म्य, ममता और कामनारूप दोष किसी न किसी रूप में ऊँच नीच सभी योनियों में रहते हैं। परन्तु मनुष्य योनि के सिवाय दूसरी योनियों में ये बाँधनेवाले नहीं होते। यद्यपि मनुष्य योनि के सिवाय देवादि अन्य योनियों में भी विवेक रहता है, पर भोगों की अधिकता होने तथा भोग भोगने के लिये ही उन योनियों में जाने के कारण उन में विवेक का उपयोग नहीं हो पाता। इसलिये उन योनियों में उपर्युक्त दोषों से स्वयं को (विवेक के द्वारा) अलग देखना सम्भव नहीं है। मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिस में (विवेक के कारण) मनुष्य ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं (स्वरूप से) तादात्म्य, ममता और कामना रूप दोषों से सर्वथा रहित हूँ। भोगों के परिणाम पर दृष्टि रखने की योग्यता भी मनुष्य शरीर में ही है। परिणाम पर दृष्टि न रख कर भोग भोगने वाले मनुष्य को पशु कहना भी मानो पशु योनि की निन्दा ही करना है क्योंकि पशु तो अपने कर्मफल भोग कर मनुष्य योनि की तरफ आ रहा है, पर यह मनुष्य तो निषिद्ध भोग भोग कर पशु योनि की तरफ ही जा रहा है।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। गीता विशेष 15.02 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.3॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

"na rūpam asyeha tathopalabhyate

nānto na cādir na ca sampratiṣṭhā

aśvattham enaṁ su-virūḍha-mūlam

asaṅga-śastreṇa dṛḍhena chittvā"

भावार्थ :

इस संसार रूपी वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत में नहीं किया जा सकता है क्योंकि न तो इसका आदि है और न ही इसका अन्त है और न ही इसका कोई आधार ही है, अत्यन्त दृड़ता से स्थित इस वृक्ष को केवल वैराग्य रूपी हथियार के द्वारा ही काटा जा सकता है। (३)

Meaning:

Its form is not available here, neither its beginning nor its end, not its existence. Having cut this firm-rooted Ashvattha tree using the robust weapon of dispassion.

Explanation:

Most of us love to see the image of planet earth from space. The majesty of that image captured by countless satellites over the years never fails to attract us. But without those satellites, we would never know that the earth looks like it does, because we did not have the means to see the big picture by oursleves. Or take a factory worker employed in a multi billion dollar multinational. All he gets to see is his machine for eight to ten hours a day. Except the CEO and a few other senior people, no one has the big picture view of the complex organization available.

Similarly, Shri Krishna says that most of us do not have the big picture view of our existence in this world. We simply live out our lives in the endless chain of attraction to sense objects, desire, action, result and further desire. To lift us out of this narrow view of life, he very compassionately gives us the illustration of the tree of samsaara in the previous two shlokas.

He very clearly states that no matter who we are, whether rich or poor, educated or uneducated, fit or sick, we are all entangled in this upside down tree of samsaara. We never see our existence as it really is. We do not see its beginning, middle or end. It is in fact, a gigantic illusion that has been given reality due to the long standing ignorance of our true nature.

The message of this shloka carries over into the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सांख्य शास्त्र के द्वेत सिंद्धान्त की यह सृष्टि प्रकृति एवम जीव इन दो मूल तत्व के संयोग की टकसाल है। जैसे ही जीव का प्रकृति से संयोग होता है, तब महत आदि 23 गुणों से तत्व उत्पन्न होने लगते है और यह ब्रह्मांड वृक्ष बन जाता है। गीता इस मे वेदान्त के सिंद्धान्त का भी मेल करते हुए कहती कि सब जीवो का मूल एक ही है। इसलिये इस विशाल वृक्ष को ऊपर से नीचे एवम नीचे से ऊपर फैला हुआ बताया है और प्रकृति के त्रियामी गुणों से कर्म के सिंद्धान्त पर विभिन्न लोक बताए गए है। मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल के विस्तार से मुक्त हो जाना चाहिये।परन्तु यह वृक्ष इतना बड़ा है, कि इस के ओर–छोर का पता ही नही चलता।

गीता द्वारा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मृत्युलोक से ले कर ब्रह्म लोक तक सभी प्रकृति के त्रियामी गुणों का भाग है।जिस में मनुष्य या जीव अपने अपने कर्मो के फल के अनुसार कर्म फल भोगने जाता है एवम अच्छे कर्मों के फल भोगने के पश्चात पुनः मृत्यु लोक में आता है। यह दुष्चक्र अनन्त हीन चलता है जब तक जीव अहंता, ममता एवम कामना से जुड़ा है।

बचपन से अभी तक किसी भी लोक के सुख को ऐश्वर्य, भग विलास एवम शांति के रूप में दिखाया है। चाहे वो स्वर्ग हो या वैकुंठ किन्तु अनन्त परम अक्षय आनन्द कंही भी नही बताया है, जहां जन्म– मरण न हो। अतः इस वृक्ष या संसार मे सुख की खोज वैसी ही है जैसे कुएं में बैठ का समुन्द्र को नापना।

संसार का यह वृक्ष किसी आरम्भ – परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुआ, इस का मूल स्वरुप परमात्मा है उसे से इस संसार का न उत्पत्ति रूप, न स्थिति रूप और न नाश रूप विकार है। बल्कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति व लय तीनो अवस्थाओ में वह उपादान परब्रह्म तो ज्यो का त्यों ही है। संसार के मूल में परब्रह्म रहता तो किंचित मात्र वह भी संसार के विकारों से युक्त होता। इसलिये गीता ने जीव एवम प्रकृति को परमात्मा की रचना मानते हुए, इस से परे परब्रह्म को रखा है।

लोहे के गोल घेरे में किंतनी ही जोर से या प्रकार से मोटरसाइकिल चला ले किन्तु उस के बाहर तो उस लोहे है गोल ग्लोबल से स्थिर हो कर गेट खोल कर ही बाहर आ सकते है। इसी प्रकार इस विशाल अश्वश्तथ वृक्ष से बाहर कैसे निकले जिस का आदि, अंत और मध्य का पता नही। कोई जीव संसार मे अपने उत्पन्न के मूल में जाना चाहे तो पिता के पिता, दादा के दादा और परपिता के परपिता खोजते खोजते ब्रह्मा तक पहुंच जाएगा क्योंकि सृष्टि का मूल तो वही है। वैसे ही शाखाएँ अनन्त है, इसलिये न तो हमे आदि पता है, न ही मध्य और न ही अंत। कर्म या कामनाएं किंतनी भी शुद्ध एवम सत्त्वगुण युक्त हो, उन के फलों से मुक्त नही हो सकते तो एक शाखा से दूसरी और दूसरी से तीसरी, चौथी या पुनः पहली में ही भटकना होगा। संसार मे रह कर जो नाम, प्रभाव, धन, परिवार, समाज, देश, दया धर्म से मुक्ति की बात सोचता है, वह इस विशाल वृक्ष की शाखाओं में उलझा रहेगा क्योंकि उस का संयोग इस त्रियामी गुण वाली प्रकृति से नही छूट सकता।

पूर्व अध्याय में हम ने गुणातीत हो कर अव्याभिचारणी भक्ति एवम निष्काम कर्म के बारे में पढ़ा था। इसी को परमात्मा ने आगे निःसंग या असंग होना बताया है अर्थात मन, बुद्धि एवम विवेक द्वारा चेतन स्वरूप प्रकृति में असंग अर्थात वैराग्य भाव का धारण करना। अर्थात लोहे के ग्लोबल में चक्कर काटने की बजाय स्थिर हो कर गेट खोल कर बाहर आ जाना। फिर अपनी आसक्ति, कामना एवम अहम अपने नाम, वंश, कीर्ति, सामाजिक कार्य या संस्था, पद आदि किसी से कोई भी किसी प्रकार का संग न हो कर वैराग्य भाव होना। अर्थात जब तक जगत या संसार मे है, निष्काम भाव से कर्तव्य समझ के प्रत्येक कार्य को गुणातीत को कर अव्याभिचारणी भक्ति के साथ करना एवम जब अपना कार्य काल समाप्त हो तो निःसंग हो कर इस संसार से विदा लेना।

अन्य उदाहरण में दर्पण के समक्ष खड़े हो कर प्रतिबिंब को जो हम देखते है, उस का कोई अस्तित्व नहीं होता। न ही वह प्रतिबिंब हटा सकते है। किंतु स्वयं ही दर्पण के सामने से हट जाए तो प्रतिबिंब भी हट जायेगा। अतः मोक्ष या निर्वृति का अर्थ है, स्वयं को इस संसार वृक्ष से हटा कर परब्रह्म में विलीन कर लेना। जिस के लिए गुणातित होने की आवश्यकता है।

यह वट वृक्ष इतना विशाल है कि इस का आदि और अंत का पता नही, इसलिए जिस ने इस वट वृक्ष को जीतने की कोशिश की, वह अन्तः इस वृक्ष में भटकता रह गया। इसलिए कर्तृत्व एवम भोक्त्व भाव में इस संसार वृक्ष में प्राणी इसी में उलझा रह जाता है।

दृढ़ वैराग्य काम, आसक्ति, एवम सुख से प्राप्त नही होता। यदि धेय धन कमाना है तो जीव के सभी कर्म धन कमाने में लग जाते है, चाहे वह कितने भी तीर्थ करे, प्रवचन सुने या दान धर्म करे। इन का प्रभाव अल्प ही रहता है। अतः दृढ़ निश्चय धेय तो तय करने से होगा। यही अंतरात्मा का दृढ़ संकल्प है।

जब दृढ़ वैराग्य अर्थात निःसंग भाव से प्रकृति के इस वृक्ष से संबंध विच्छेद हो जाता

है तो क्या करना है, वह आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.03।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.4॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

"tataḥ padaṁ tat parimārgitavyaṁ

yasmin gatā na nivartanti bhūyaḥ

tam eva cādyaṁ puruṣaṁ prapadye

yataḥ pravṛttiḥ prasṛtā purāṇī"

भावार्थ :

वैराग्य रूपी हथियार से काटने के बाद मनुष्य को उस परम–लक्ष्य (परमात्मा) के मार्ग की खोज करनी चाहिये, जिस मार्ग पर पहुँचा हुआ मनुष्य इस संसार में फिर कभी वापस नही लौटता है, फिर मनुष्य को उस परमात्मा के शरणागत हो जाना चाहिये, जिस परमात्मा से इस आदि–रहित संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति और विस्तार होता है। (४)

Meaning:

Then that goal should be sought, having attained which, none return again. I seek refuge in that original Purusha from which has sprung this ancient sprout.

Explanation:

A family of tourists is driving around in a new city without the help of a map or a GPS device. A left turn here, a right turn there, and they are utterly lost. The wife asks the husband to stop the car and ask a shopkeeper for directions. The husband says no, and continues driving in circles for an hour.

The wife yells at the husband who finally agrees to ask a shopkeeper for directions. This is an all too common occurrence. Unless the ego is surrendered, even material knowledge is far from reach.

Shri Krishna says : All of you are thoroughly lost in the cycle of action and reaction, the tree of samsaara. So take refuge in me. I am the original Purusha, the root from which this tree of samsaara has sprung up. I have created this universe like a magician creates his illusion. Don't get lost in the branches of the tree which are fueled by the three gunas of Prakriti. Come straight to the source, which is me. I am giving you a hand to save you from drowning in samsaara. Hold it tightly and do not let it go. This is the meaning of the word prapatti, which had also come up in the seventh chapter.

This prapatti, this seeking of refuge in Ishvara will help us cultivate dispassion towards samsaara. But this dispassion will not come overnight, it will come gradually. First, karma yoga has to be practised as prescribed by Shri Krishna. We should reduce selfish actions, increase selfless actions, then drop our attitude of doership. We cannot have it both ways - we cannot love Ishvara and love the material world at the same time. If we cannot control our mind and senses, we have yet to cultivate real devotion for Ishvara. Devotion, coupled with dispassion towards the world, will result in our liberation, the goal from which we will not have to return back to the material world.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा ने संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन यही बताने के लिये किया है कि इस संसार मे हम जो भी प्रपंच करते या सीखते है, वह प्रकृति की माया है।

पहले परब्रह्म अकेला था, उस मे विस्तार का संकल्प पैदा हुआ। यह इच्छा अज्ञान है, इसलिये यह समस्त संसार रूपी वृक्ष परब्रह्म के अज्ञान का ही स्वरूप है। इसलिये इस मे जो भी जीव सत्वगुणी हो कर भी, किंतना भी ध्यान, कर्म, या पाठ करे वो अज्ञान ही होगा क्योंकि उस मे सब से महत्वपूर्ण अहम यानी "मैं" साथ रहता है और उस से कामना एवम मोह भी चलता है। इसलिये संसार ने समस्त कार्य सुख–भोग, नाम–कीर्ति– वंश–परिवार आदि में होते है एवम मृत्यु लोक से ले कर ब्रह्म लोक तक इन्ही सुखों एवम आनन्द का वर्णन अप्सराओं एवं दिव्य शक्तियों से मिलता है। यह एक दुष्चक्र ही है, जिस से मुक्ति नहीं।

इसलिये परमात्मा की खोज करने से पहले संसार से सम्बन्धविच्छेद करना बहुत आवश्यक है। कारण कि परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में ज्योंकेत्यों विद्यमान हैं, केवल संसार से अपना सम्बन्ध मानने के कारण ही नित्य प्राप्त परमात्मा के अनुभव में बाधा लग रही है। संसार से सम्बन्ध बना रहने से परमात्मा की खोज करने में ढिलाई आती है और जप, कीर्तन, स्वाध्याय आदि सब कुछ करनेपर भी

विशेष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकको पहले संसारसे सम्बन्धविच्छेद अर्थात निःसंग करने को ही मुख्यता देनी चाहिये।जीव परमात्मा का ही अंश है। संसार से सम्बन्ध मान लेने के कारण ही वह अपने अंशी (परमात्मा) के नित्य सम्बन्ध को भूल गया है। अतः भूल मिटनेपर मैं भगवान् का ही हूँ, इस वास्तविकता की स्मृति प्राप्त हो जाती है। सत्वगुण में सुख एवम वैराग्य दोनों है, यदि सुख की ओर बढ़ेंगे तो संसार वृक्ष में रहेंगे और वैराग्य की ओर बढ़ेंगे तो परब्रह्म की ओर बढ़ेंगे।

सृष्टि का फैलाव ही नामरूपात्मक कर्म है और यह कर्म अनादि है। आसक्त बुद्धि छोड़ देने से इस का क्षय हो जाता है अन्य किसी भी उपाय से इस का क्षय संभव नही क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है। इसलिये कर्म करते समय मन मे जो भी धैय या गुप्त कामना रहती है, वही आसक्ति या अहम, मोह, कामना का वास्तविक स्वरूप होता है, उसी से निःसंग हो कर परब्रह्म की शरण मे जाना इस कर्म वृक्ष का क्षय है। यही निष्काम कर्मयोग है।

अतः यह यहाँ स्पष्ट है कि उत्तम लोको की प्राप्ति मोक्ष नहीं है।

उस के पश्चात् उस परम वैष्णवपद को खोजना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये कि जिस पदमें पहुँचे हुए पुरुष, फिर संसार में नहीं लौटते, पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते। उस पद को हम गुणातीत हो कर अव्याभिचारणी भक्ति द्वारा खोज सकते है। इस के लिये हमें परब्रह्म आदि पुरुष की शरण जाना होगा। जिस पुरुष से बाजीगरकी मायाके समान इस मायारचित संसारवृक्ष की सनातन प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, प्रकट हुई है, उसी की शरण मे जाना होगा। यही बात हम पहले भी परमपद की प्राप्ति में पढ़ चुके है किंतु परमात्मा द्वारा संसार एवम परमपद को स्पष्ट करना आवश्यक था। इसलिये यहाँ निःसंग वैराग्य भक्ति द्वारा शरण की बात कही है, जिसे हम हो इसी संसार मे प्रकृति की देह एवम सत्वगुणी हो कर प्राप्त करना है।

आगे हम पढेंगे कि परब्रह्म की शरण मे गए वैराग्य पुरुष का इस सांसारिक अश्वत्थ वृक्ष से सम्बन्ध कट गया है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.04।।

।। ब्रह्म दर्शन और जीवन ।। गीता विशेष 15.04 ।।

यह मेरी निजी राय या यह समझ ले कि विचार है। बचपन में ज्ञान अर्थात समझ नही थी या थी, पता नही परंतु शुरवात के 6 से 7 साल में क्या जीवन होता है, इस पर कोई विचार करने की क्षमता ही नहीं थी। प्रकृति जैसा नाच नचा रही थी, वैसा ही कुछ होता था। भूख लगी तो रो लिए, खेलने का मन किया तो खेले, सभी प्रेम करते थे, इसलिए जिद्द भी सभी को अच्छी लगती थी। यह मोह, ममता और अपनत्व था।

किंतु जिंदगी ठहरती नही, स्कूल की जिंदगी में घर के कामों, स्कूल की पढ़ाई ने और साथियों के साथ हंसी मजाक। जीवन का लक्ष्य उन उचाइयो को छूना हो गया, जो समय समय पर दिल को प्रभावित करती थी, इसलिए बाक्सर, तांगेवाला, खिलाड़ी, नायक, डॉक्टर, इंजीनियर और न जाने कितने कितने रोल करते थे, किंतु पढ़ाई खत्म खत्म होते होते एक विषय या क्षेत्र में महारत हासिल की। यहां लक्ष्य ऊंची कमाई और सुख की पारिवारिक जिंदगी हो गया। भगवान मंदिर, आश्रमों और ग्रंथो के पाठ तक सीमित था, और उस की आराधना में वह सब सुख की आशा थी, जो काम करते करते प्राप्त करने में कठिन होते है। किंतु आत्म विश्वास में परमात्मा हमारे साथ खड़ा है।

जीवन की ढलान पर गीता पढ़ने का अवसर मिला किंतु अश्वत्थ वृक्ष की भांति अनगीनत शाखाओं और पल्लवो के मध्य जीवन इच्छाओं और आकांक्षाओं में व्यतीत हो चुका था और जो बचा है, वह भी इन्ही माया जाल में स्वर्ग – नरक तक ही जीवन सुधारने में लगा है। कभी महसूस ही नही हुआ कि अश्वत्थ वृक्ष के पिंजरे में कैद पक्षी को उन्मुक्त आकाश क्या होता है। पिंजरा भी इतना बड़ा की जिस का कोई छोर नही, तो कैद भी यह भी कभी ज्ञान नहीं हुआ।

अक्सर अकेले में प्रश्न अवश्य उठते थे कि मैं कौन हूं। जीवन मृत्यु क्या है। हमे पूर्व जन्म क्यों याद नही रहता। किसी भले व्यक्ति को क्यो कर कष्ट आता है। यह कष्ट क्या है? आत्मा अमर है और जीव नित्य ? जब जब धर्म की हानि होती है, तो धर्म की रक्षा के लिए परमात्मा प्रकट होते है, तो अभी क्यों नही ??? आदि आदि। लेकिन इन सब प्रश्नों के उत्तर की आवश्यकता ही क्यों है, जब हम कुछ करते ही नही, जो करती है वह प्रकृति करती है, तो जो कुछ भी हो रहा है, वह अच्छा ही हो रहा होगा, जो कुछ भी होगा अच्छा ही होगा। न कुछ हमारा है, न कुछ हमारा था और न ही कुछ हमारा होगा। इस संसार से कुछ भी साथ ले जाने की व्यवस्था नहीं है, किंतु जब तक संसार में है, कीर्तिमान बनकर रह सकते है, यह धरती उन लोगो के लिए ऋणी रहती है जो सृष्टि यज्ञ चक्र में सक्रिय भूमिका निभाते हुए अपने कर्तव्य धर्म का पालन लोकसंग्रह के लिए करते है। आश्चर्य कभी कभी इस बात का भी होता है कि मनुष्य जितना अपने उद्धार के लिए चिंतित नहीं है, उस से अधिक अन्य के उद्धार के लिए चिंतित रहता है, इसलिए खुद जैसा भी हो, अच्छाई की अपेक्षा उसे अन्य सभी से रहती है।

यह प्रकृति निरंतर क्रियाशील है, इसलिए इस को कर्म भी कहते है। जड़ – चेतन निरंतर अपने अपने कर्म में लगे है, सूर्य अपनी धुरी पर घूमता है, रोज निकल कर जगत को प्रकाशित करता है। यह जीवन का आधार सूर्य ही है, फिर प्रकृति प्राण वायु, अन्न, जल सभी उपलब्ध करती है। जीव भी प्रकृति ही है, वह भी इसी में क्रियाशील है। किंतु बुद्धि, अहम और कामनाओं से ग्रस्त हो कर वह निरंतर प्रपंच रचता रहता है। इसलिए स्थान, धर्म, स्वार्थ, लोभ, मोह और वासना में एक दूसरे के साथ भी है और एक दूसरे के विरुद्ध भी। विश्व में मनुष्य ही एक दूसरे को हत्या जिन आकांक्षाओं के रहते करता है, वह समय के काल में समा जाती है। वह अज्ञानी अहम में अपने स्वरूप को भूल कर जो मेरा मेरा करता है, वही उस के पतन का कारण भी बनता है। यह एक विचित्र और कटु सत्य है, जो अवसान काल में ही समझ में आता है। यही शायद योग माया है।

ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या। किंतु जब कल दांत में दर्द हो रहा था, तो उस की पीड़ा ने यह भी समझा दिया कि प्रकृति प्रदत्त शरीर और सुख – दुख, भूख – प्यास, मोह –ममता भी जीवन से नही छूट सकते। जगत मिथ्या नही, यह भी सत्य है, जब तक प्रकृति में जीवित है, यह घर, परिवार, व्यवसाय, स्वास्थ्य, समाज, देश, राजनीति, पद, सम्मान सभी आवश्यक है। सत्व इसी में है कि हम कर्मठ, विद्वान और जिम्मेदार बने। आखिर युद्ध भूमि में अर्जुन ने मोक्ष के लिए नही, अपने सात्विक अधिकारों के लिए अपने लोगो से लड़ा था। भगवान राम ने रावण को सीता के अपहरण के लिए मारा था। भगवान कृष्ण ने जो भी लीलाएं की, वह प्रकृति के सात्विक गुणों की रक्षा हेतु की। जगत का समस्त ज्ञान समृद्ध एवम गौरव शाली जीवन के लिए है, इसलिए प्रथम कर्तव्य अपने प्रति, फिर परिवार, समाज, देश और विश्व के प्रति है। जाना तो सभी को है किंतु जो उपलब्ध है, उस का उपयोग किए बिना भी चले गए तो भी मोक्ष नही। कुछ तो परमात्मा के संकल्प में होगा, जिस के कारण मनुष्य जीवन और प्राकृतिक सौंदर्य को बनाया होगा। पीड़ा, प्रेम, द्वेष, धैर्य आदि गुण – अवगुण बनाए होंगे। अच्छे – बुरे लोग बनाए है तो विविधा भी रहेगी। जगत सत्य नही भी है तो भी जीवन के वर्तमान का सत्य अवश्य है। इसी को सात्विक बन कर जीना आवश्यक है। छत पर जाने के लिए आखिरी सीढ़ी तक चढ़ना ही पड़ता है। तभी उस को छोड़ कर छत मिलेगी। निर्वाण के लिए यह सब सीढियां ही तो है। इन के प्रति उदासीन कैसे हो सकते है। युद्ध भूमि में खड़े अर्जुन को युद्ध को जीतना किसी सन्यास लेने से कम नहीं, फिर युद्ध भूमि का त्याग क्यों करना चाहिए।

गीता के अनुसार आत्मा मूल रूप से स्वतंत्र है, तथापि मनुष्य एक जन्म में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त नही कर सकता। क्योंकि पूर्व के कर्मो से अनुसार उसे मिली हुई देह का प्राकृतिक स्वभाव अशुद्ध होता है। इसलिए आप चाहो या न चाहो, कुछ विचार, आदत और आचरण स्वतः ही आप का स्वभाव बन जाते है। फिर एक ही जन्म में मुक्ति की चाह में इस जीवन को क्यो नष्ट करे। भगवान ने कहा भी है कि मुक्ति के लिए की गई कोशिश व्यर्थ नहीं जाती, अगले जन्म में जहां से कोशिश खत्म हुई थी, वहां से पुनः शुरू कर सकते है। फिर आत्मा को मुक्ति की जल्दी भी क्या है। धीरे धीरे ही सही, सात्विक जीवन को जीते हुए, अपने कर्तव्य कर्म को अनासक्त भाव में परिवर्तित करते हुए भी जीवन का आनंद ले तो भी मनुष्य योनि भी बनी रहेगी और मुक्ति की ओर यात्रा भी चलती रहेगी। बिना धैर्य को खोए, कर्म का क्षय किस प्रकार हो, कि जीवात्मा कर्मफल से मुक्त हो जाए, तो उस का उपाय निष्काम भाव से कर्म करते रहना ही होगा, और निष्काम भाव भी कोई कठोर तप या पतंजलि योग शास्त्र से कष्ट पूर्ण तरीके से करते हुए, प्रकृति के आनंद से सात्विक भाव में करते रहने से भी प्राप्त हो जाएगा। अतः जरूरत अपने कर्मो पर ध्यान देने की ज्यादा है, जिस से शरीर और प्रकृति का सदुपयोग हो सके। आप का स्वल्प से स्वल्प सात्विक कर्म का फल आप के जीवन को मुक्ति ही ओर ही ले कर जाएगा।

इसलिए यदि इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर के, कर्मफल के विषय में प्राणी मात्र की जो आसक्ति होती है, उस का क्षय किया जाए, तो भी ज्ञानी मनुष्य कर्म करता हुआ भी, उस के फल से मुक्त होगा। कर्म स्वभावतः अंधा, अचेतन और मृत होता है, वह न तो किसी को पकड़ता है और न ही किसी को छोड़ता है। वह स्वयं में अच्छा या बुरा भी नहीं होता। मनुष्य यानि जीव ही अपनी आसक्ति और अहम में इस कर्मो में फसा कर, अपनी आसक्ति और अहंकार में अच्छा या बुरा, शुभ या अशुभ, निषिद्ध या निहित कुछ भी बना देता है। अतः कर्म स्वयं में फल भी निर्धारित नहीं करता, उस की आसक्ति उस के फल को निर्धारित करती है, वह तो किसी भी कार्य के कारण या परिणाम को बतलाता है।

संसार में कितने लोग महान हुए, उन का कार्य क्षेत्र भी भिन्न भिन्न था, कुछ वैज्ञानिक, अविष्कारक, दार्शनिक, समाज सुधारक, खिलाड़ी, अध्यापक, अधिवक्ता और कुछ कलाकार गायन, अभिनय, नृत्य आदि में प्रवीण थे, देश, धर्म और मानव जाति के बलिदान होने वीर पुरुष, जन कल्याण के साधु – संत, लेखक, कवि आदि हुए। कुछ ने राजनीति में देश का नेतृत्व किया तो कुछ ने नेतृत्व में कमी देखते हुए उसे परिवर्तित किया। इन्हे यह संसार उन के कर्मो से याद करता है। अतः आवश्यकता यही है कि सात्विक कर्मो का मार्ग अपना कर कर्मयोगी बने, अपने क्षेत्र में कर्मठ और परांगत हो। नर यदि ठान ले तो वह नारायण भी बन सकता है। इसलिए मुक्ति भी वही प्राप्त कर सकेगा जो योग्य होगा। योग्यता को पहले सिद्ध करना होगा।

जब मार्ग लंबा और घुमावदार हो, बीच में अनेक मार्ग भ्रमित कर के पुनः पीछे खड़ा कर दे, सांप – सीढ़ी के खेल की भांति अनेक कष्ट दायक स्थान हो तो यह अश्वत्थ वृक्ष का ज्ञान एक मार्ग दिग्दर्शक का काम करता है। यह अनंत, छोर रहित वृक्ष का मूल क्या है, हमे मूल की ओर जाना है या पल्लवो में ही उलझे रहना है या फिर इस वृक्ष से बाहर छलांग लगानी है। किंतु दिशा निर्देश देने वाला गति नही देता, गति और निर्णय तो जीव को ही तय करते हुए, निर्वाण के मार्ग पर विभिन्न पडाव को देखते हुए बढ़ना है।

अध्याय एक से चौदह तक पढ़ने के बाद जब ब्रह्म ज्ञान का अध्याय आया तो भगवान श्री कृष्ण स्पष्ट शब्दों में संसार की तुलना अनंत – सीमा रहित त्रय गुणों से युक्त अश्वत्थ वृक्ष से करते है और बताते है जो कुछ हम देखते, सुनते, सोचते है वह परब्रह्म के एक से अनेक होने के संकल्प का कारण है, जिस से महंत अर्थात बुद्धि, फिर अहंकार और उस के सूक्ष्म और स्थूल इंद्रियों, पंच महाभूतो से यह सृष्टि बनी। अर्थात बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रिया आदि सभी प्रकृति के त्रय गुणों से बंधे है। यही माया जाल है जो जब उपलब्ध है तो सत्य प्रतीत होता है किंतु स्थायी नही होने से मिथ्या है। हमारा अज्ञान हमे भ्रमित करता है कि हम जीवात्मा इस अश्वत्थ वृक्ष में उच्च लोक में जाने से मुक्त हो जाएंगे। जो वस्तु संकल्प के विकल्प के तौर पर बनी हो, वह तो माया या मिथ्या ही होगी। जिस बीज को परमात्मा ने प्रकृति में बोया है, वह मुक्त तो परमात्मा से मिल कर ही होगा। जिन महंत, अहंकार, मन से हम सोचते है, वह तो प्रकृति ही है। उस के पार ही परमात्मा है तो यात्रा की समाप्ति तो इन सब के त्याग से ही होगी। प्रकाशवान, ज्ञानवान, नित्य, साक्षी, दृष्टा और ब्रह्म के अंश स्वरूप जीव में प्रकृति की योगमाया से अज्ञान की परत इतनी अधिक गहरी है, कि उस में अपनी सुविधा से निर्गुण, निराकार, सत, एकमेव परमात्मा की रचना और कर्म भी अपनी सुविधा से रच दिए। नासदिय सुक्त में जिस को कोई जान नही सका, उस नेति – नेति परब्रह्म को वही प्राप्त कर सकता है, जो इस अश्वत्थ वृक्ष से परे जाने की कुशलता रखता है।

जिस को जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिस को प्राप्त करने के बाद पुनः इस जगत की योगमाया में नही आना होता। जो अपने नित्य, अनंत, स्वरूप में विलीन हो जाता है, वह ही मोक्ष है। जगत मिथ्या ही है, जिस का स्वप्न भंग हो जाता है, जो नींद से जाग जाता है, वही इस स्वप्न को समझ कर भूल जाता है, शेष जो भी, जिस प्रकार भी, जिस भी आस्था, विचार से यह जगत में चल रहा है, वह मिथ्या होते हुए भी सत्य लगता है। यही जगत के कर्म की अक्षर प्रक्रिया है, जहां कर्म भी अनिवार्य है और उस का फल भी। उस के परिणाम के कारण जन्म – मृत्यु का चक्कर भी सतत है। जो अनासक्त हो गया, जिस में निष्काम हो कर कर्म किया, जिस में निर्मम भाव से सब परमात्मा का है, इस भाव में कर्म किया, वही इस अश्वत्थ वृक्ष से बाहर मुक्ति को प्राप्त हुआ और जिस ने जगत में रहते हुए भी अनासक्त भाव से कर्म किया, संसार को भोगा, अपने कर्तव्य कर्म का पालन

किया, अपने महंत से अहंकार, कामना और आसक्ति से निसंग हो कर जगत में व्यवहार किया, उस ने भी जगत में प्रकृति के आनंद के साथ अपनी यात्रा पूर्ण की। प्रकृति क्रियात्मक कर्म प्रधान ही है, कोई अपने को कर्म से मुक्त नहीं रख सकता, अतः कर्म को निसंग हो कर निमित्त मात्र हो करना ही, अश्वत्थ वृक्ष के बाहर का रास्ता खोलता है।

क्या आप भी कुछ ऐसा ही सोचते है ?

।। हरि ॐ तत् सत् ।। गीता विशेष 15.04 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.5॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाअध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

"nirmāna-mohā jita-saṅga-doṣā

adhyātma-nityā vinivṛtta-kāmāḥ

dvandvair vimuktāḥ sukha-duḥkha-saṁjñair

gacchanty amūḍhāḥ padam avyayaṁ tat"

भावार्थ :

जो मनुष्य मान–प्रतिष्ठा और मोह से मुक्त है तथा जिसने सांसारिक विषयों में लिप्त मनुष्यों की संगति को त्याग दिया है, जो निरन्तर परमात्म स्वरूप में स्थित रहता है, जिसकी सांसारिक कामनाएँ पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी है और जिसका सुख–दुःख नाम का भेद समाप्त हो गया है ऐसा मोह से मुक्त हुआ मनुष्य उस अविनाशी परम–पद (परम–धाम) को प्राप्त करता हैं। (५)

Meaning:

Free from pride and delusion, with the defect of attachment conquered, always dwelling in the self, liberated from the pairs of opposites known as joy and sorrow, ignorance-free individuals attain that imperishable goal.

Explanation:

If one has to seek refuge in Ishvara, per the previous shloka, what should be the qualifications of such a seeker? This complex and elaborate topic has been very nicely packed into one shloka by Shri Krishna. The first qualification of a seeker is the absence, or at least, reduction of the sense of I and mine. Candidates who are interviewing for a new position frequently pass off an entire team's effort as their own. It is very easy to spot the inflated sense of pride in them. And even if they spent a few minutes contributing to a project, they still have the notion that it is their project, nobody else's. Shri Krishna says that this I and mine notion, this pride and delusion has to go away in a seeker.

Once the I and mine notion has diminished to some extent, the seeker has to focus on where is he stuck, where is his attachment in this world. Some may be attached to their profession, some may be attached to their family, some may be perversely attached to their enemies also. But, if we slowly unwind the attachments towards their source, we will find that the seeker is attached to his body. The attachment to the body, and the consequent fear of death, is the toughest attachment for the seeker to tackle. A certain level of dispassion towards the body, accomplished through control of the mind and senses, is a prerequisite to worship of Ishvara. When this happens, desires that are a by product of attachment, also diminish.

So, two qualifications are covered so far: absence of I and mine notion, and conquering one's attachments. Only then will we be able to focus on the main goal, which is daily absorption in the self, adhyaatma nitya. But how do we remain in this state constantly? By being vigilant of labelling the two pairs of opposites - likes and dislikes, joy and sorrow, praise and censure and so on and so forth. Even a whiff of wind on either side of a tightrope walker is sufficient to bring him down. Likes and dislikes have the ability to distract us from our goal. We should not pay too much attention to them, just observe them silently as they come and go. This is forbearance or titkshaa. This will enable us to completely remove ignorance of the true nature of our self, and to reach the abode of Ishvara, described in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में अश्वत्थ वृक्ष से निःसंग होने को कहा गया क्योंकि भगवद दृष्टि से तो यह संसार वृक्ष केवल अज्ञान से उत्पन्न हुआ है जिसे अहंता –ममता के संग दृढ़ कर लिया है। इसलिये कहा गया है कि मान, प्रतिष्ठा, बड़ाई जैसे

रजोगुण एवम अविवेक, विपर्यय ज्ञान अर्थात जिस ज्ञान से कामना बढ़े एवम भ्रम जैसे तमो गुण का संग त्याग देना चाहिये।

पूर्व में भक्त के गुण, ज्ञानी के गुण और स्थितप्रज्ञ के गुण को पुनः दोहराते हुए, अमानित्व, निसंग, आत्मस्वरुप का ज्ञान, निरासक्त एवम निर्द्वंद हो चुके जीव को इस ज्ञान का आभास होता है। प्रकृति की रचना में महंत के बाद अहंकार जन्म लेता है, यही से जीव मेरा मेरा शुरू कर देता है। किंतु जिस में इस अहंकार को त्याग दिया अर्थात निर्मम हो गया, वह सब परमात्मा का कहना शुरू कर देता है। तुलसी दास जी भी कहते है "ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा" ।

इस प्रकार मनुष्य को ज्ञानी पुरुषों एवम महात्माओं का सत्संग करना, उत्तम पुस्तको का अध्ययन करना एवम अपने अंदर अध्यात्म ज्ञान की प्रवृति को जाग्रत करना चाहिए। उस के कर्म निष्काम हो एवम स्थितप्रज्ञ हो कर सुख–दुख में समभाव होना चाहिये।

भारत में दर्शनशास्त्र आचार के लिये है, प्रचारमात्र के लिए नहीं। किसी भी लक्ष्य को पाने के लिए कुछ आवश्यक योग्यताएं होती हैं, जिनके बिना मनुष्य उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। यह योग्यता जाति, धर्म, वर्ण या उम्र पर आधारित नहीं है। अतः आत्मज्ञान भी कुछ विशिष्ट गुणों से सम्पन्न अधिकारी को ही पूर्णत प्राप्त हो सकता है। उन गुणों का निर्देश इस श्लोक में किया गया है। जिस में प्रकृति एवम जीव के संयोग को समझ लिया है, वह प्रकृति के द्वारा ही निःसंग होना शुरू कर देता है। जिस के लिये सत्वगुणी होना, सांसारिक सुखों की कामना न करते हुए निष्काम भाव से कर्म करना, मूढ़ता को त्याग के अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करने के किये अध्ययन, सत्संग एवम ज्ञानी पुरुषों का अनुशरण करना, हृदय में प्रेम भाव को रखना, सुख–दुख में विचलित न होना तथा स्मरण एवम समर्पण से भक्ति भाव पूर्ण जीवन व्यतीत करने से ही इस संसार वृक्ष से निःसंग हो कर उस परब्रम्ह के अव्यय, नित्य अलौकिक पद को प्राप्त किया जा सकता है।

विचारणीय बात है कि अच्छी बातें हम सब जानते है, मानते है किंतु मन मे जो विकार गहराई तक है उस के कारण परिस्थिति आने पर भूल कर सांसारिक हो जाते है। धन कमाना, परिवार चलाना या समाज एवम परिवार के साथ क्या निवृत हो कर रह सकते है। तो उत्तर है " हाँ". गीता कर्म योग है, इसलिये वह सब कर्म से निवृत न हो कर सभी कर्म करने को मान्यता देती है किंतु "मैं" को त्याग कर। जब तक हम मैं–मैं करते है एवम सांसारिक कर्म के आनंद के क्षण मन मे बसाए घूमते है, तब तक निवृत नही है। हर क्षण का आनंद लो किन्तु किसी भी क्षण को अपना निजी व्यक्तित्व न बनाओ। अक्सर हम मैं मैं करते हुए कुछ भ्रांतियां पाल लेते है, उस भ्रांतियों या मूढ़ता को अपने संग ले कर ही जीना चाहते है क्योंकि हम भयभीत रहते है कि इन के बिना "मैं" मैं नही रहूंगा। जब की हम वो होते ही नही जो हम अपने आप को समझते है। यह संसार के वृक्ष को आदि, अनन्त और मध्य के बिना भी इसलिये बताया गया है। भगवान श्री कृष्ण ने सभी कर्म किये किन्तु उस के निमित नही रहे। न ही द्वेष भाव से किये अतः निष्काम रहे। यह संभव है जब हम मूढ़ता त्याग कर अध्यात्म के साथ उच्च विचारों को अपनाए।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.05।।

।। संसार वन की कथा ।। विशेष 15.05 ।।

महाभारत के युद्ध के बाद शोक में डूबे धृतराष्ट्र को महात्मा विदुर अपने अमृत समान वचनों से समझाने का प्रयास करते हैं। उनका शोक मिटाने और संसार च्रक की गति समझाने के लिए वे उन्हें वेद शास्त्रों की एक कथा सुनाते हैं–

एक दुर्गम वन में एक ब्राह्मण यात्रा कर रहा था। यह वन हिंसक जंतुओं से भरा था। जोर–जारे से गर्जना करने वाले सिंह, चीते, हाथी और रीछ जैसे वन्य प्राणी थे। इस वन में प्रवेश करना, यमराज को न्योता देने जैसा था। वन में प्रवेश करने के बाद ब्राह्मण इधर–उधर शरण पाने के लिए दौड़ता फिर रहा था। कुछ समय भागम–भाग के बाद वह थक कर गिर पड़ा और गहरी निद्रा में लीन हो गया। आंख खुलने पर उसने देखा कि वह वन में भयानक लताओं के मजबूत जाल में फंस गया है और एक कुरूप स्त्री ने उसे अपनी भुजाओं में कस कर भींचा हुआ है। नीचे कुआं है। बेलों के जाल में फंसकर कुएं में उलटे लटके ब्राह्मण ने कुएं के भीतर एक महाबली नाग और बाहर किनारे पर एक विशाल हाथी देखा, जिसके छह मुख थे। वह विशाल गजराज, काले और सफेद रंग का था और 12 पैरों पर चलता था। ब्राह्मण ने एक और विचित्र दृश्य देखा कि कुएं के ठीक ऊपर एक विशाल वृक्ष की टहनियों पर मधुमक्खियों का छत्ता था, जिसमें से स्वादिष्ट मधु–धारा प्रवाहित हो रही थी। यहीं पर काले और सफद रंग के सैकड़ों चूहे थे, जो ब्राह्मण की आश्रयदाता लताओं को निरंतर काट रहे थे। इस घोर संकट की स्थिति में भी उलटे लटके ब्राह्मण के मुख में स्वादिष्ट मधु टपकने के कारण वह उसकी ओर आकर्षित हो गया। ऐसी विषम परिस्थिति में भी तृष्णा शांत न होने के कारण वह बारंबार शहद पीने की इच्छा कर रहा था।

धृतराष्ट्र उस ब्राह्मण की अधोगति जान आश्चर्यचकित हुए और महात्मा विदुर से पूछने लगे, ‘हे अनघ! उस ब्राह्मण को तो महान दुख प्राप्त हुआ था, फिर भी वहां उसका मन कैसे लगा। उस महान कष्ट से उसका छुटकारा कैसे संभव था।’

विदुर ने भयंकर वन का रहस्य प्रकट करते हुए कहा, यह संसार ही वह महान दुर्गम वन है, सर्प नाना प्रकार के रोग हैं, जिनसे निरंतर आयु क्षीण होती रहती है। विशालकाय नारी वृद्धावस्था का रूप और कांति का नाश करने वाली है। वन में स्थित कुआं देहधारियों का शरीर है। उसमें नीचे जो विशाल नाग है, वही काल है, जो सभी प्राणियों का अंत और उनका सर्वस्व हरण करने वाला है। कुएं में लटकी लताएं, जीवन की अनगिनत आशाएं हैं, जिनमें मानव बंधा हुआ है। छह मुख वाले हाथी के रूप में छह ऋतुएं और 12 पैरों को 12 महीनों के रूप में दर्शाया गया है। जो चूहे बेलों को काट रहे हैं, उन्हें विद्वान पुरुष दिन और रात कहते हैं, उनके चलते ही हमारा जीवन निरंतर कम होता जाता है। जो वृक्ष के ऊपर मधुमक्खियां हैं, वे सभी कामनाएं हैं। वे मानव देह को अपने डंकों से पीड़ा पहुंचाती रहती हैं। मनुष्य के मुख में निरंतर कामरस टपकता रहता है, जिसमें सभी मानव डूब रहे हैं।

श्रेष्ठ मनुष्य वही है जो सभी से मैत्री भाव रखता हुआ, शरीर रूपी रथ में इंद्रिय रूपी घोड़ों पर मन की लगाम द्वारा नियंत्रण रखता हुआ– क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और कामरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। साथ ही प्रत्येक सांस में सच्चिदानंद परम पिता परमात्मा को प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहता है।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। गीता विशेष 15.05 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.6॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"na tad bhāsayate sūryo

na śaśāṅko na pāvakaḥ

yad gatvā na nivartante

tad dhāma paramaṁ mama"

भावार्थ :

उस परम–धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न ही अग्नि प्रकाशित करती है, जहाँ पहुँचकर कोई भी मनुष्य इस संसार में वापस नहीं आता है वही मेरा परम–धाम है। (६)

Meaning:

That in which the sun does not illumine, nor the moon, nor fire, that is my supreme abode. Having attained that, there is no return.

Explanation:

Shri Krishna listed the qualifications of a seeker in the prior shloka, and asserted that one who takes his refuge will attain his abode. He now provides the location, the address of that abode. He says that there is no sun, no moon, no fire, in other words, no source of light in his abode. Initially we would feel a little frightened if we take the literal meaning of this shloka. Even cavemen were able to access some light source in the form of the sun, the moon, or fire from a wooden torch. Why would anyone want to go to such a place?

The sun, the moon and fire have symbolic interpretations which are extremely relevant here. The sun is the presiding deity of our intellect, the moon of our mind and emotions, and fire of our physiological functions. The one who has sought refuge in Ishvara automatically gives up affinity to his body, mind, intellect, ego (which resides in the intellect) and physiological functions. If this affinity, the root of all our sorrow, is given up, such a person will never again get caught in the wheel of birth of death, in the cycle of samsaara. This is liberation.

So then, this is the abode of Ishvara, of self realization, of liberation. Having reached there, the liberated person does not come back to the state of ignorance. He never gets deluded again. He never identifies or develops affinity with body, mind, intellect and the world. The duality, the pairs of opposites, the dvandva that was mentioned before, is nothing but the world. For such a person, neither joy nor sorrow, neither pain nor pleasure, neither friend nor enemy, nothing can destabilize him. This is liberation.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परब्रह्म वह स्थान है जहां से वापस लौटने की आवश्यकता नही रहती। इसी को परमस्थान कह कर भी संबोधित किया गया है। इस का वर्णन श्वेताश्वतर, मुंडक एवम कठोउपनिषद में भी पाया जाता है। परमात्मा द्वारा अपने नित्य धाम को अपने से अभिन्न सच्चिदानंदमय, दिव्य, चेतन कहते हुए, स्पष्ट किया है कि चक्षु, मन और वाणी से उस का वर्णन संभव नही है।

सूर्य, चंद्र या अग्नि के नाम रूपक से परे स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित ब्रह्म के परमस्थान का वर्णन उस गति से जिसे हम ब्रह्म निर्वाण मोक्ष कह सकते है, यहां से ही यात्रा शुरू होती है और यही अंतिम पड़ाव है, इसलिए ब्रह्म का ज्ञान ही संपूर्ण ज्ञान है।

आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है संसार में अपुनरावृत्ति। तर्क की परिसीमा में आने वाले प्रमेयों की सिद्धि केवल तर्कों के द्वारा ही की जा सकती है। यह नियम है कि दृश्य अपने द्रष्टा को प्रकाशित नहीं कर सकता तथा कभी भी और किसी भी स्थान पर द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते। जिस चैतन्य के द्वारा हम अपने जीवन के सुखदुखादि अनुभवों को जानते हैं वह चैतन्य ही सनातन आत्मा है और इसे ही भगवान् अपना परम धाम कहते हैं। यही जीवन का परम लक्ष्य है।

इस परब्रह्म के परमस्थान को न सूर्य, न चंद्रमा और न ही अग्नि प्रकाशित कर सकते है, वह परमपद ऐसा व्यापक तथा अलुप्त स्वयं प्रकाश है जिस से सब देश, काल व वस्तु और सम्पूर्ण गुण, क्रिया व द्रव्य तथा सम्पूर्ण वृति रूप ज्ञान प्रकाशमान हो रहे है। उस धामको प्राप्त हुए जीव पुनः लौटकर संसारमें नहीं आते

आश्वत्थ वृक्ष के अंतिम श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि जीव जिस अंधकारमय जगत में रहता है तब तक बंधा हुआ है। ज्योहीं वह इस भौतिक जगत रूपी मिथ्या, विकृत वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँच कर मुक्त होता है तो वह परब्रह्म के परमस्थान को प्राप्त होता है।

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि जो स्वयं अंतरात्मा से प्रकाशित है। जो सदानंद, परमानंद, शांत, सनातन सदा कल्याण स्वरूप है वह स्वयं में प्रकाशमान है उसे किसी के प्रकाश सूर्य, चंद्रमा या तारो की जरूरत नही है। यह भौतिक प्रकाश ऊपर से प्रकाशित करते है और परब्रह्म से प्रकाशित अंदर से प्रकाशित है। यह तीनों हमारे भौतिक अस्तित्व, मन, भावुकता एवम प्रकृति ऊर्जा एवम शक्ति के प्रतीक है। उस परमपद व परमधाम की प्राप्ति किसी क्रिया रूप व्यापार से संभव नही होती, किंतु जो तत्वविद ज्ञानी है, वो ही इस प्रकाश का अनुभव कर सकते है।

अश्वत्थ वृक्ष के वर्णन के बाद, आगे हम परमात्मा है पुरुषोत्तम स्वरूप को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.06।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.7॥

श्रीभगवानुवाच

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"mamaivāṁśo jīva-loke

jīva-bhūtaḥ sanātanaḥ

manaḥ-ṣaṣṭhānīndriyāṇi

prakṛti-sthāni karṣati"

भावार्थ :

हे अर्जुन! संसार में प्रत्येक शरीर में स्थित जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, जो कि मन सहित छहों इन्द्रियों के द्वारा प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है। (७)

Meaning:

My eternal fragment, in this world of souls, becomes the individual soul. It draws itself to the mind and five senses, established in Prakriti.

Explanation:

So far, we saw the state of the select few individuals who strive for liberation. Now Shri Krishna summarizes the state of the jeevas, the individual souls who are stuck in the cycle of samsaara, of birth and death. The jeeva, ignorant of its true nature which is infinite, harbours selfish desires with the aim of removing its finitude. In order to do so, it needs to be able to contact and transact with Prakriti. The equipment needed to transact with Prakriti comprises the mind and the five senses. Therefore, the jeeva attracts or pulls these six aspects of Prakriti unto itself.

Before we proceed, we need to clarify one point here. The word fragment implies that the eternal essence, speaking as Ishvara, can be broken or divided into pieces. Yet, we know that the eternal essence is indivisible. To solve this confusion, we need to remind ourselves of the examples provided in the thirteenth chapter. We can try to divide space using walls, but space is indivisible. Also, we can lose the sun's reflection when we break a pot filled with water, but nothing happens to the sun. There is no coming or going of space or of the sun. The limitations, the upaadhis such as walls and pots "as though" try to divide, but cannot do so in essence.

The Jnyaaneshwari provides yet another example. It describes an ascetic monk who has taken up a contemplative and solitary life in the jungle. One night he dreams that he is a householder with a wife and kids. In order to provide for his family, he has to work hard at his job to make ends meet. His job causes a great deal of stress to him. But when he wakes up from his dream, he remains the same monk, unaffected by the apparent ties of family life. The dream world is yet another upaadhi or limitation caused by ignorance of his real nature.

So then, the jeeva draws a mind and five senses in order to exhaust its desires. However, it still needs a physical body to transact with Prakriti. How does all this happen? We see this in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीव से अपनत्त्व एवम समस्त सृष्टि जिस से उत्पन्न हुई है उस को स्वीकृत करते हुए परमात्मा कहते है कि यह जीव उन्ही का अंश है किंतु तनिक बद्ध जीवन के कारण तनिक भटक गया है।

विषय का ज्ञान पांच ज्ञानेद्रियां एवम मन ही कर सकता है। इसलिए छह इंद्रियों की बात कही गई है। ज्ञान से प्राप्त विषय के अनुसार मन, बुद्धि के निर्देश से पांच कर्मेंद्रियों से कार्य करता है। अतः छह इंद्रियों में पांच कर्मेंद्रिया भी निहित ही है।

इस शरीर मे श्रोत्र, त्वक , चक्षु, रसना व घ्राण ये पांच ज्ञानेंद्रियां है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध पृथक पृथक इन के पांच विषय है। मन इन का सर्वर या एक्सचेंज नियंत्रण कक्ष है। सभी इंद्रियाओ के अपने अपने विषय है इसलिये दिन भर कार्यक्रम एक विषय से दूसरे विषय मे घूमता रहते है और जीव समझता है कि वो खाता है, वो घूमता है, वो सोता है इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार वह मन के माध्यम से विषयो से बंधा हुआ जीवन जीता है।

जीव जब देह त्याग कर के अन्य देह में प्रविष्ट करता है तो अपने सूक्ष्म शरीर में इन छह अर्थात मन सहित ज्ञानेद्रियों को साथ ले जाता है। जीवात्मा का अन्य देह में प्रवेश उस के सूक्ष्म शरीर की बद्धता से होता है, यह सूक्ष्म शरीर ही कामना, आसक्ति और कर्मफलो से लिपटा रहता है। जिसे हम आगे पढ़ेंगे।

परमात्मा कहते है कि यह जीव मेरा ही अंश है। परमात्मा स्वयं में पूर्ण है इसलिये अंश का अर्थ कोई हिस्सा या टुकड़ा न हो कर, परमात्मा का ही स्वरूप माना गया है। ईशावास्योपनिषद का यह श्लोक परमात्मा के इसी कथन की पुष्टि करता है।

ओम पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ओम शांतिः शांतिः शांतिः।

ओम वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।

ब्रह्म का अंश होते हुए भी जीव को ब्रह्म नही कह सकते। क्योंकि परमात्मा एक है और जीव अनेक। सांख्य तो जीव के आगे विचार ही नही करते। संत तुलसीदास जी भी कहते है "जीव अनंत एक श्रीकंता"। यही जीव जब महंत और अहंकार से मुक्त होता है तो ही ब्रह्मलीन होता है। अंतर जीव के प्रकृति के साथ अज्ञान का है।

गीता वेदान्त सिंद्धान्त से आगे इस बाद की पुष्टि करती है कि प्रकृति एवम जीव तो परमात्मा के स्वरूप है, एवम समस्त सृष्टि का उत्पन्न एक ही ब्रह्म से है जो परब्रह्म ही है। जीव एवम प्रकृति से उत्पन्न सृष्टि मृत्यु लोक से ले कर ब्रह्मलोक तक माया का ही संसार वृक्ष है जिस से जीव अज्ञान से बंधा हुआ है। यह सब मन सत–रज–तम गुणों में विचरता हुआ जीव को भ्रमित करता रहता है। जिस से जीव में अहम या कर्ता भाव का अज्ञान रहता है। परमात्मा इस जगत में स्वांश अर्थात स्वयं के रूप में कृष्ण, राम आदि स्वरूप में प्रकट होते है अथवा विभिन्नांश अर्थात पृथकीकृत अंश में जीवात्मा स्वरूप में प्रकट होते है। प्रत्येक जीव का आत्मा रूप में अपना व्यष्टित्व और सूक्ष्म स्वातंत्र्य होता है। इसी स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से जीव परमात्मा की बजाय प्रकृति से अपने को बांध लेता है और स्वयं को कर्ता और भोक्ता समझ लेता है। मुक्त अवस्था में वह ब्रह्म अर्थात परमात्मा का ही अंश है।

इस अज्ञान से ही जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी परमात्मा के अनुरूप न हो कर परमात्मा को अपने सांसारिक सुखों के लिये उपयोगी बनाना चाहता है, इसलिये परमात्मा से मोक्ष या परब्रह्म में विलीन होने की बजाए सांसारिक सुखों की याचना करता है। यही उस की इंद्रियाओ एवम मन द्वारा उस को गलत रास्ता दिखाने की बात है। किंतु परमात्मा कहते है वह उन का ही अंश है इसलिये उन के समान ही नित्य, दिव्य, चेतन एवम

सचित्तदानंद है। इस कथन से परमात्मा यही पुष्टि करते है कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति और पालन का कार्य उन के द्वारा ही होता है।

व्यवहार में जब भी आप एकांत में बैठे हो तो जीव अर्थात स्वयं की आवाज को सुन या महसूस कर सकते है, जो कामनाओं, आसक्ति और अहम के भार में दबी होती है। यह बैचेनी भी उत्पन्न भी करती है, यही कारण है कोई सर्वसत्ता है, इस को कोई भी नकार नहीं सकता। आप की अंतरात्मा जितनी भी शुद्ध होगी, उतना की अधिक प्रभाव आप की वाणी और चेहरे की आभा में झलकेगा।

फिर पुनर्जन्म या जन्म मरण का क्या कारण है, यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.07।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.8॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

"śarīraṁ yad avāpnoti

yac cāpy utkrāmatīśvaraḥ

gṛhītvaitāni saṁyāti

vāyur gandhān ivāśayāt"

भावार्थ :

शरीर का स्वामी जीवात्मा छहों इन्द्रियों के कार्यों को संस्कार रूप में ग्रहण करके एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में उसी प्रकार चला जाता है जिस प्रकार वायु गन्ध को एक स्थान से ग्रहण करके दूसरे स्थान में ले जाती है। (८)

Meaning:

When the lord acquires a body, and when he leaves it, he takes them and departs, like the wind takes odours from their seats.

Explanation:

Earlier, we saw how the individual soul, the jeeva, wants to interact with Prakriti in order to exhaust its desires. In preparation to do so, it surrounds itself with the mind (which contains the desires) and the five senses. This collection of the jeeva, the mind and the senses is also known as the subtle body, because it is invisible. We can think of the subtle body as a computer file. Just as a computer file needs a computer to express itself, a subtle body needs a physical body to express itself. Whenever the timespan of one human body ends, the subtle body has to find another physical body to continue exhausting its desires.

Shri Krishna says that in such a situation, the subtle body, the jeeva with the mind and senses, ejects itself from the physical body and finds another body to settle in. It is similar to a international diplomat who goes from one assignment to another, taking his staff with him wherever he goes. Since the mind and senses follow the jeeva, it is referred to as Ishvara or the lord here, not to be confused with the meaning of Ishvara that has been used throughout the Gita. Once the jeeva finds a new home, it slowly starts unpacking its belongings, the mind and senses, in sequence. It is fascinating to see time-lapse videos of an embryo growing inside a mother's womb. This is the jeeva slowly gaining its faculties, which are nothing but accumulations of additional upaadhis.

Imagine that a small wooden box contains a strong perfume. If the box - the seat of the perfume - is opened, the fragrance will slowly start leaving the box and fill the room. Shri Krishna uses this analogy to explain the transfer of the jeeva from one physical body to another. If we bring in the analogy of the eternal essence as space, and combine it with this analogy, we will find that they fit together perfectly. Walls, fragrance, wind, boxes - all these limitations of space are apparent, not real. They are upaadhis, apparent limitations. Space does not care whether we build 2 walls or 2 million walls. No one or nothing can limit space. There is no coming and going of the perfume in space. It is only from a worldly standpoint that the fragrance is moving from the box to the room.

So then, the jeeva draws a mind and five senses in order to exhaust its desires. However, it still needs a physical body to transact with Prakriti. How does all this happen? We see this in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में हम से यह पढ़ा कि हम सब परब्रह्म के ही अंश है एवम श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना एवम घ्राण पांच इंद्रियाओ से मन के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवम गंध पांच विषयो में लिप्त रह कर बंध जाते है।

गीता पुर्नजन्म के सिंद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहती है कि विषयो के प्रति मोह, कामना एवम लोभ जीव के संग एक लिंग स्वरूप सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती है जिस में जीव इन विषयों की कामना में आसक्ति सहित जो भी कर्म करता है वह एकत्रित हो जाता है। जैसे हम में मिठाई खाने की लालसा हुई तो यह इस लिंग स्वरूप सूक्ष्म शरीर मे दर्ज हो जाता है। इस लालसा से हम ने मिठाई की चोरी की, यह भी दर्ज हो जाता है, फिर चोरी से मिठाई के परिणाम दर्ज हो जाते है। अतः विषय–कर्म का सूक्ष्म शरीर जीव का ही अभिन्न भाग होजाता है और शरीर की मृत्यु के बाद जीव को परमात्मा में विलीन होने की जगह इस विषय–कर्म के सूक्ष्म शरीर के अनुसार उस लोक ले जाता है जहां उस को जीव की कामनाओं को भोगने के सुख मिले और उस के बाद पुनः मृत्यु लोक में बचे हुए कर्मो के भोग के विभिन्न शरीर की योनि में लाता है।

देहेन्द्रियादि का ईश्वर अर्थात् स्वामी है जीव। जब तक वह किसी एक देह मे रहता है, तब तक सूक्ष्म शरीर (इन्द्रियाँ और अन्तकरण) को धारण किये रहता है और असंख्य प्रकार के कर्म करता है। अपनी वासनाओं के अनुसार वह कर्म करता है और फिर कर्मो के नियमानुसार विविध फलों को भोगने के लिये उसे अन्यान्य शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। तब एक शरीर का त्याग करते समय वह सूक्ष्म शरीर को समेट लेता है और अन्य शरीर में जा कर पुन उसके द्वारा पूर्ववत् व्यवहार करता है।सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से सदा के लिये वियोग स्थूल शरीर के लिये मृत्यु है। मृत देह का आकार पूर्ववत् दिखाई देता है, किन्तु विषय ग्रहण, अनुभव तथा विचार ग्रहण करने की क्षमता उसमे नहीं होती, क्योंकि ये समस्त कार्य सूक्ष्म शरीर के होते हैं। जीव की उपस्थिति से ही देह को एक व्यक्ति के रूप में स्थान प्राप्त होता है। जिस प्रकार प्रवाहित किया हुआ वायु पुष्प, चन्दन, इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं की सुगन्ध को एक स्थान से अन्य स्थान बहा कर ले जाता है, उसी प्रकार जीव समस्त इन्द्रियादि को लेकर जाता है। वायु और सुगन्ध दृष्टिगोचर नहीं होते, उसी प्रकार देह को त्यागते हुये सूक्ष्म जीव को भी नेत्रों से नहीं देखा जा सकता है। जीव की समस्त वासनाएं भी उसी के साथ रहती हैं।इस श्लोक में जीव को देहादि संघात का ईश्वर कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि उसी की उपस्थिति में विषय ग्रहण, विचार आदि का व्यवहार सुचारु रूप से चलता रहता है।

जीव को यह विषय– कर्म का सूक्ष्म शरीर अपने साथ ले जाता है और कर्म के फल के अनुसार उसे नया शरीर मिलता है। जीव की मृत्यु के समय जो भी चेतना या भाव बना कर रखता है उस के अनुसार यह सूक्ष्म लिंग स्वरूप विषय–कर्म शरीर जो अदृश्य है, उसे उस स्थान पर पहुचा देता है। इसलिये मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण जरूरी माना गया है।

मैत्रयुनिषद में सूक्ष्म शरीर का वर्णन करते समय इस को अठारह तत्व का बताया गया है।यह अठारह तत्व में पांच तन्मात्राएँ, पांच कर्मेंद्रियां, पांच ज्ञानेंद्रियां, मन, बुद्धि एवम प्राण को माना गया है। मन मे विचरण, आकर्षण, भोगने के गुण होते है, इसलिए इसको इंद्रियाओ का स्वामी भी कहा जाता है।

गीता का यह श्लोक उन सब के प्रश्न का उत्तर है कि जीव की मृत्यु के बाद क्या? प्रकृति की रचना में सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप में पांच महाभुत अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु के स्थूल स्वरूप की मृत्यु के बाद स्थूल शरीर तो या तो अग्नि से जला देते है या पृथ्वी में गाड़ देते है किंतु शेष महंत से तन्मात्राओ तक के अठारह तत्व का सूक्ष्म शरीर अपने कर्म फलो के साथ नष्ट नही होता। अतः अपनी अधूरी इच्छाओं एवम कर्म फलों को भोगने के लिए वह पुनः किसी अन्य योनि में जन्म लेता है या पुण्य कर्म को भोगने उच्च या निम्न लोक में कुछ समय के लिए चले जाता है। जीव का सम्बन्ध प्रकृति से है, संसार से नही। इसलिए जीव संसार के संबंधों, संपत्ति या कर्मो से कोई संबंध नहीं रखता। यह हो सकता है, कि मोह से जीव का सूक्ष्म शरीर कुछ समय के लिए सांसारिक वस्तु से जुड़ा रहे। इसी मान्यता को ले कर हिंदू धर्म में 12 दिन के कर्मकांड एवम पाठ की शुद्धि से उस जीव की मुक्ति की क्रियाएं की जाती है।

कुछ हद तक हम जीव की तुलना सिम कार्ड से कर सकते है और शरीर को मोबाइल मान सकते है। परमात्मा टावर अर्थात सिम कार्ड ऑपरेटर। बिना मोबाइल और बैटरी के सिम कार्ड कुछ नही करता। मोबाइल टूट जाने से सिम card नए मोबाइल में लग जाएगा किंतु उस का स्टोरेज, गैलरी, नंबर सब खत्म हो जाते है। मोबाइल की गुणवंता को जीव के नए कुल या योनि से कर सकते है। बैटरी चेतना या ऊर्जा शक्ति है। आज कल जो गूगल में सेव करने से पुराना पूरा हिसाब मिल जाता है, वह पतंजलि योग का संयम है। बिना मोबाइल के सिम और बिना सिम के मोबाइल की कोई कीमत नहीं और दोनो टावर के बिना काम के नही। उदाहरण अपने में संपूर्ण नही होता, किंतु कुछ कुछ अवश्य चिन्हित करता है।

सांसारिक जीव के साथ स्थूल शरीर होने से उस में संसार को भोगने की क्षमता है, किंतु जिस जीव के साथ स्थूल शरीर नही है, उसे अपने इस सूक्ष्म शरीर के बंधन को भोगने के लिए स्थूल शरीर की आवश्यकता है, इसलिए वह बार बार जन्म लेता है। मुक्ति का वास्तविक अर्थ जीव के इस सूक्ष्म शरीर के अज्ञान से मुक्त होना है। प्रकृति के कर्म के कार्य कारण के दुष्चक्र से निकलने के लिए, निष्काम होना ही प्रथम चरण है।

अतः जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी अपने सूक्ष्म लिंग स्वरूप शरीर से बंधे होने से शरीर से वियोग के बाद भी परब्रह्म में विलीन नहीं होता। जीव अकर्ता एवम साक्षी है, इसलिये यह सूक्ष्म शरीर से उस का सम्बंध प्रकृति का ही है और जब तक वह इस संबंध को मानता है, जन्म मरण से मुक्त नही हो सकता। मुक्त होने के लिये हम ने निःसंग के विषय मे पहले पढ़ा है।

अतः यह वेदान्त शास्त्र एवम गीता का कहना है कि कोई भी जीव जो परमात्मा का ही अंश एवम नित्य है, वह हर बार मृत्यु से परमात्मा में विलीन नहीं होता एवम परमात्मा द्वारा बार बार नए सिरे से पुनः प्रकृति में बीज स्वरूप स्थापित भी नही करना पड़ता।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.08।।

।। पुनर्जन्म और गीता ।। विशेष 15.08 ।।

शरीर को सर्वश मानने वाले अक्सर पूछते है कि मृत्यु के बाद क्या होता है। यह विषय तत्व ज्ञानी पुरुष का है, इसलिए मुझे इस पर प्रमाणिकता से लिखने का कोई हक नही। फिर भी जो मुझे समझा, उसे लिखता हूं।

चार्वाक ऋषि ईश्वर नाम की किसी कल्पना के विरुद्ध थे, उन का मत है कि प्रकृति से संयोग से देह उत्पन्न होती है, प्रकृति में ही मिल जाती है। इसलिए इस देह का जितना उपभोग प्राकृतिक सुख के लिए कर सकते है, करे। ऋण कृतवा, घृत पिबेत, अर्थात उधार ले कर भी ऐश करो, कौन तुम से मरने के बाद उधार मांगने वाला है। अर्थात मृत्यु ही मुक्ति है।

सांख्य प्रकृति और पुरुष के संयोग से जन्म और मृत्यु मानते है। पुरुष को प्रकृति ललचाती है और पुरुष अपने कर्तृत्व और भोक्त भाव में उस कर्मो को भोगता है। यही भ्रम जब समाप्त हो जाता है, तो मुक्ति है।

हम में पूर्व में पढ़ा है कि जीव प्राकृतिक रचना में 18 सूक्ष्म तत्व होते है। अर्थात जीव का एक सूक्ष्म शरीर होता है और इस में पांच महाभूतो से मिलने से स्थूल शरीर बनता है। सूक्ष्म शरीर से आसक्ति, कामना, कर्मफल लिपटे रहते है। सावित्री और यमराज प्रसंग में सत्यवान की मृत्यु होने पर यमराज उस के शरीर से अंगूठे भर का सूक्ष्म शरीर ले कर चले थे। इसलिए हम अन्य प्रमाण के अभाव में यही मान लेते है कि यह अंगूठे भर का सूक्ष्म शरीर होता है।

मृत्यु का अर्थ स्थूल शरीर से संबंध समाप्त होना है किंतु सूक्ष्म शरीर जीव को अपने साथ कामना, आसक्ति, कर्मफल और अहम से बांधे रखता है। यही सूक्ष्म शरीर मृत्यु के बाद विभिन्न लोकों में भ्रमण करता है। उच्च कर्म होने से उच्च लोक में और निम्न कर्म होने से निम्न लोक में।

कर्मो के फलों से अनुसार इसी सूक्ष्म शरीर को विभिन्न योनि भी मिलती है। गीता में कहा है जो मूर्ख लोग परमात्मा तो नहीं भजते हुए भूत – प्रेत की पूजा करते करते है, वह उन्हीं योनि को प्राप्त होते है। इस का अर्थ हम यही ले सकते है अंगुष्ठ भर का सूक्ष्म शरीर तामसी वृति के कर्म करने पर कर्म के फल स्वरूप भूत – प्रेत की योनि में जन्म लेते है और उच्च कर्म फल होने पर पितर, यक्ष, गंधर्व, देवता आदि योनि में चले जाते है। वहा अपने कर्मो का फल भोगने के बाद पुनः मुक्ति के लिए मृत्यु लोक में जन्म लेते है। मनुष्य जन्म को छोड़ कर अन्य जीव के जन्म भी कर्म फल का भोग भोगने के माने गए है।

मनुष्य जन्म ही एक मात्र जन्म या योनि है जिस में कर्म का अधिकार और बुद्धि का उपयोग है। अतः मुक्ति इसी जन्म से होती है। मुक्ति का अर्थ कर्म फल से मुक्ति अर्थात सूक्ष्म शरीर से अपना सम्बन्ध जैसे ही जीव पहचान लेता है, वह कर्तृत्व और भोक्त्व भाव से मुक्त हो कर परमात्मा में विलीन हो जाता है।

मृत्यु के बाद जीव के सूक्ष्म शरीर में संस्कार, कर्मफल, कामनाएं, आसक्ति एवम अहम रहता है। यह आसक्ति उस की लालसा की होती है। इसलिए पूर्व जन्म के रिश्ते, नाते, कर्म, धन संपत्ति आदि का कोई ज्ञान नहीं रहता। पतंजलि योग में योग, ध्यान, समाधि की अवस्था के बाद संयम की अवस्था आती है, जिस से जीव यदि प्रयास करे तो उसे पूर्व जन्म एवम अगले जन्म की स्मृति हो जाती है।

गीता में पुनर्जन्म की बात अवश्य कही है, अध्याय चार में पूर्व जन्मों की बात भी याद होने की कही गई है, एवम नीच और निषिद्ध कर्म करने पर निम्न योनि में जाने की बात भी है, किंतु जीव के मृत्यु और जीव द्वारा अन्य योनि में प्रवेश के मध्य की अवस्था के बारे में कुछ नही लिखा है। श्रीमद भागवत पुराण में धुंधकारी को नीच कर्मो के कारण मुक्ति न मिलने और सावित्री और सत्यवान की कथा से आत्मा और सूक्ष्म शरीर का पुनः स्थूल शरीर में प्रवेश की कथा, शंकराचार्य जी द्वारा गृहस्थ धर्म के ज्ञान के पर काया में प्रवेश आदि अनेक कथाएं पढ़ने में आती है, जिस से यह प्रतीत होता है कि सूक्ष्म शरीर की आसक्ति स्थूल शरीर में बनी रहती है। अर्थात मृत्यु के बाद जीव अपने सूक्ष्म शरीर से विचरण करता रहता है। यही सूक्ष्म शरीर कर्म फल के अन्य योनियों में जाता है। जीव अकर्ता है, इसलिए जीव को प्रकृति अपने लुभावन में सूक्ष्म शरीर से बांधे रखती है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर भी प्रकृति ही है, इसलिए हम लोग देवताओं को प्रकृति के गुणों से युक्त व्यवहार करते, पुराण की कथाओं में पढ़ते है।

हिंदू रीति रिवाज में मृत्यु के बाद 12 दिन का शोक और कर्मकांड किए जाते है। ऐसी मान्यता है कि शरीर छूटने के साथ शरीर के साथ की आसक्ति धीरे धीरे ही नष्ट होती है। जीव की अत्यधिक आसक्ति उस के शरीर से होती है, इसलिए उस को जब तक यह ज्ञान नही होता, कि उस का शरीर से संबंध टूट गया है, जीव अपने शरीर के आस पास ही रहता है, अतः समस्त कर्मकांड से जीव की शरीर की आसक्ति समाप्त होने तक शुद्धि की जाती है।

मनुष्य के मस्तिष्क की सरंचना में अनगिनत कोषों की बात कही गई है। जिस में ज्ञान, स्मृति, चित्र आदि जमा रहते है और जब भी आवश्यकता होती है, यही से ज्ञान की स्मृति को बुद्धि द्वारा संचालित किया जाता है। अतः मस्तिष्क की सक्रियता में इन कोश के ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जो हम बचपन से देखते, सुनते, पढ़ते और करते है, वह सब जाने – अनजाने इस में जमा होता है। स्वस्थ मन और बुद्धि इस में से सूचनाएं मंगा कर कार्य करता है और अवचेतन या अवसाद में जब इन सूचनाओं पर नियंत्रण न हो तो मन और बुद्धि को यह प्रभावित करती है। जैसे स्वप्न में विचित्र विचार इस का उदाहरण है। जिस जीव से हमारी आसक्ति अत्यधिक होती है, उस स्मृति होने से वह जीव भी हमे मृत्यु के बाद कभी कभी अवचेतन स्मृति से दिखता है। यह भी हो सकता है, जो जीव जब तक अन्य योनि में प्रवेश नहीं करता, अपनी आसक्ति से जीवित जीव से संपर्क करने की कोशिश करे। किंतु यह सब प्राकृतिक सूक्ष्म शरीर की प्रक्रिया है और जीव निसंग होते हुए भी भ्रमित है, अतः

मृत्यु के बाद उस का जगत से कोई संबंध नहीं रहता, वह अपने ही सूक्ष्म शरीर में कर्मफलो, संस्कारों और मुक्ति के प्रयास के अतिरिक्त मृत्यु लोक के किसी संबंध, संपत्ति या ज्ञान को की स्मृति नही रखता। क्योंकि ज्ञान कोश का मस्तिष्क सूक्ष्म शरीर नही ले कर चलता। अतः भूत, प्रेत या किसी का दिखना या किसी का कुछ कहना आदि वर्तमान मनुष्य के अवचेतन मन की उपलब्धि ही होती है।

सजीव सृष्टि के सचेतन तत्व को संख्यवादी ' पुरुष ' कहते है, पुरुष चाहे संख्या में असंख्य हो, स्वभावतः उदासीन और अकर्ता ही है। विभिन्न योनि में जन्म का कारण कर्म फल है, तो कर्म प्रकृति के सत्व – रज – तमो गुण का ही विकार है। लिंग शरीर में जिन अठारह तत्वों का समुच्चय है, उस में से बुद्धि तत्व प्रधान है। इस का कारण यह है, कि बुद्धि ही से आगे अहंकार आदि सत्रह तत्व उत्पन्न होते है। अर्थात वेदांत जिसे कर्म कहते है, उसी को सांख्य शास्त्र में सत्व रज तम गुणों के न्युनाधिक परिमाण से उत्पन्न होने वाला, बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते है। बुद्धि के इस धर्म का नाम भाव है। सत्व रज एवम तम गुणों के तारतम्य से ये भाव कई प्रकार के हो जाते है। जिस प्रकार फूल में सुगंध लिपटी है, उसी प्रकार यह भाव भी लिंग शरीर से लिपटे रहते है। इन भावों के अनुसार, वेदांत परिभाषा में कर्म के अनुसार, लिंग नए नए जन्म लिया करता है और जन्म लेते समय, माता पिता के शरीर में से जिन द्रव्य को वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्य के भी भाव आ जाते है, अतः मृत्यु के बाद का जन्म भावों की समुच्चयता का ही परिणाम है।

इसलिए किसी जीव का देह छोड़ने के बाद पुनः उसी देह के प्रति आकर्षण भावो के समुच्चय से प्रकट हो सकता है किंतु अन्य योनि में प्रविष्ट होने के बाद नही रहता। यह एक प्राकृतिक क्रिया ही है, जीव में सात्विक भाव के उत्कर्ष होने से, मनुष्य को ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है और उसे पुरुष और प्रकृति का भेद भी समझ में आने लगता है। यही मार्ग पुरुष को मूल स्वरूप अर्थात कैवल्य की ओर ले जाता है।

सत्य क्या है, यह वही जान सकता है, जो ब्रह्मविद हो। हम उन का अनुसरण करते है। गीता और अन्य ग्रंथो में मृत्यु के बाद विभिन्न योनियों और लोकोमें जीव के कर्म फलों के अनुसार प्रस्थान, निवास और पुनर्जन्म का जो विवरण है, वही प्रस्तुत किया है।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। विशेष 15.8 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.9॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

"śrotraṁ cakṣuḥ sparśanaṁ ca

rasanaṁ ghrāṇam eva ca

adhiṣṭhāya manaś cāyaṁ

viṣayān upasevate"

भावार्थ :

इस प्रकार दूसरे शरीर में स्थित होकर जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन की सहायता से ही विषयों का भोग करता है। (९)

Meaning:

The ear, eye and touch, taste and smell, taking support of these and the mind, it enjoys the sense objects.

Explanation:

Shri Krishna continues explaining how the jeeva, the individual soul, takes up a human body to carry out its transactions with Prakriti. We can use the wonderful Vedantic text "Drig Drishya Viveka", or "Discrimination of the seer and the seen", to examine this process in a little more detail. It explains, with almost mathematical precision, how the eternal essence begins to think of itself as a finite human entity. There are two main players in this process. One is the eternal essence, which is of the nature of infinite awareness and existence, explained in great detail in the second chapter. Let us call it "Om" here. The second player is avidya or ignorance, which exists in the realm of the illusory Maaya.

When Om and ignorance come into contact with each other, a fragment of Om is reflected in ignorance, just like a fragment of the sun as though appears in the water of a pot. As we saw earlier, this fragment is called the jeeva. Ignorance creates an apparent limitation, also known an upaadhi, which imposes a sense of incompleteness or finitude upon the jeeva. The jeeva seeks the help of the upaadhi to remove its sense of completeness. The upaadhi can exist in one of many modifications or

states. Let us examine these modifications. The sense organs are modifications of this upaadhi that can contact different aspects of Prakriti. The mind is a modification of this upaadhi that can take input from the sense organs, compare that input with its memory, and present a complete picture of what was contacted. The ego is another modification that thinks of itself as the "I", just like a low level manager thinks of himself as the owner of the factory in the absence of the real owner.

Now let us examine the content of this shloka. After the end of its journey in one body, the jeeva travels with the mind and senses, the upaadhi in other words, in search of another physical body. When the ego aspect of the upaadhi associates itself with a tiny physical body inside a womb, based on the desires its wants to exhaust, it develops the notion "I am this body". It now begins to use the body to transact with the world. The human nose, for instance, is an inert object. But due to the association of the ego with the body, we think that the physical human nose is doing the smelling. The ego then uses the mind to generate the notion "I know that this smell is that of a rose". This finally leads the ego to generate the notion "This smell it pleasant, it makes me happy".

In this way, the jeeva gives up its power of reality, knowledge and happiness to the ego. The ego becomes the doer and the experiencer of the world. It has to constantly transact with the world in order to chase sense objects for happiness. It forgets the fact that it was happy to begin with. It gives reality to the domain of Prakriti, the three gunas, the visible and so called tangible world. But we should not forget that behind all this is the illusory mix up of Om and ignorance, the mix up of awareness and inertness. The Raamacharitamanas describes this mix up as "jada chetan ki granthi" or the knot between awareness and inertness.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व में जिस लिंगस्वरूप सूक्ष्म शरीर को पढ़ा, वह मन से जुड़ा है। इंद्रियाओ में कोई भी भाव ही होता, वो जो देखती, सुनती, कहती, सूंघती या स्पर्श करती है, उसे मन ही तय करता है।

ऐसे ही जीव भी नित्य एवम साक्षी है, वह भी अकर्ता है, इसलिये जो मनुष्य विवेक स्वरूप में आत्मा के इस ज्ञान को जानते है कि आत्मा वास्तव में प्रकृति से सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप एवम असंग है। किन्तु जब यह बुद्धि द्वारा मन के संपर्क में आता है तो इन ज्ञान एवम कर्मेन्द्रियों को बुद्धि द्वारा मन से समझने लगता है। धीरे धीरे उसे इस मे रस आने लगता है और विषयो भोग में पढ़ कर लोभ एवम कामना करने लगता है।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्वत किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं करता है, क्योंकि उसमें विषयों का सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु यही चैतन्य बुद्धि में परावर्तित होकर वस्तुओं को प्रकाशित करता है। यही बुद्धि का प्रकाश कहलाता है, जो इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं को प्रकाशित करता है। मन सभी इन्द्रियों के साथ युक्त होता है, जिसके

कारण बाह्य वस्तुओं का सम्पूर्ण ज्ञान संभव होता है। बुद्धि की उपाधि से युक्त चैतन्य ही विषयों का भोक्ता जीव है।यदि यह चैतन्य आत्मा सर्वत्र विद्यमान है और हमारा स्वरूप ही है, जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण जगत् का अनुभव कर रहे हैं, तो क्या कारण है कि हम उसे पहचानते नहीं हैं इसका कारण अज्ञान है।

मन में अनेक प्रकार के (अच्छे बुरे) संकल्प विकल्प होते रहते हैं। इन से स्वयं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि स्वयं (चेतनतत्त्व, आत्मा) जड शरीर, इन्द्रियाँ, मन बुद्धि से अत्यन्त परे और उन का आश्रय तथा प्रकाशक है।

संकल्प विकल्प आते जाते हैं और आत्मतत्व स्वयं सदा ज्यों का त्यों रहता है। मन का संयोग होने पर ही सुनने, देखने, स्पर्श करने, स्वाद लेने तथा सूँघने का ज्ञान होता है। जीवात्मा को मन के बिना इन्द्रियों से सुख दुःख नहीं मिल सकता। इसलिये यहाँ मन को अधिष्ठित करने की बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा मन को अधिष्ठित करने के अर्थात् उस का आश्रय लेकर ही इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है।

उदाहरण के तौर पर, श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कानों में सुनने की शक्ति श्रोत्रम् है। आज तक हमने अनेक प्रकार के अनुकल (स्तुति, मान, बड़ाई, आशीर्वाद, मधुर गान, वाद्य आदि) और प्रतिकूल (निन्दा, अपमान, शाप, गाली आदि) शब्द सुने हैं पर उन से स्वयं में क्या फरक पड़ा । किसी को पौत्र के जन्म तथा पुत्र की मृत्यु का समाचार एक साथ मिला। दोनों समाचार सुनने से एक के जन्म तथा दूसरे की मृत्यु का जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आया। जब ज्ञानमें भी कोई अन्तर नहीं आया, तो फिर ज्ञाता में अन्तर आयेगा ही कैसे अतः जन्म और मृत्यु का समाचार सुनने से अन्तःकरण में (माने हुए सम्बन्ध के कारण) जो असर होता है, उस की तरफ दृष्टि न रख कर इस ज्ञान पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्रों में देखने की शक्ति चक्षुः है। आज तक हम ने अनेक सुन्दर, असुन्दर, मनोहर, भयानक रूप या दृश्य देखे हैं पर उनसे अपने स्वरूप में क्या फरक पड़ा। स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् त्वचा में स्पर्श करने की शक्ति स्पर्शनम् है। जीवन में हमारे को अनेक कोमल, कठोर, चिपचिपे, ठण्डे गरम आदि स्पर्श प्राप्त हुए हैं, पर उनसे स्वयं की स्थिति में क्या अन्तर आया । रसनेन्द्रिय अर्थात् जीभ में स्वाद लेने की शक्ति रसनम् है। कडुआ, तीखा, मीठा, कसैला, खट्टा और नमकीन – ये छः प्रकारके भोजन के रस हैं। आज तक हमने तरह तरह के रसयुक्त भोजन किये हैं पर विचार करना चाहिये कि उन से स्वयं को क्या प्राप्त हुआ । घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका में सूँघने की शक्ति घ्राणम् है। जीवन में हमारी नासिका ने तरह तरह की सुगन्ध और दुर्गन्ध ग्रहण की है पर उनसे स्वयं में क्या फरक पड़ा। अतः जब तक मन द्वारा उस का रस कामना एवम तृप्ति न लिया जाए, यह सब ज्ञान ही है जिस से हमे कुछ भी असर नही पड़ता।

अतः जीव चेतन्य है, यह भ्रम से मन एवम बुद्धि से अपने को चेतन समझ लेता है, फिर प्रकृति का खेल शुरू होता है और चेतन भोक्तत्व एवम कर्तृत्त्व भाव से इन इंद्रियाओ एवम मन से विषयो का भोग करने लगता है। आज हम सब इसी अवस्था को भोग रहे है और अपने चेतन्य स्वरूप की बजाए सांसारिक कर्मो में कर्तव्य भाव से जुड़े है। हमे ज्ञात रहना चाहिये यदि सांसारिक विषयो में सुख होता तो संसार मे धनी व्यक्ति सब से सुखी होता।

इंद्रियां स्वयं में किसी विषय का ज्ञान या भोग नहीं करती। वह जो कुछ ग्रहण करती है वह मन को बता देती है। मन का जिस इंद्रिय से संयोग होता है, वह उस विषय को ग्रहण भी करता है ,भोगता भी है। जीव को यह भ्रम रहता है कि वह उस को कर भी रहा है और भोग भी रहा है।

जैसे मूर्ख व्यक्ति घड़े के जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब को देख कर उसे ही सूर्य समझता है, वैसे ही उपाधि में स्थित जडबुद्धि वाला व्यक्ति उपाधियों (मन, बुद्धि आदि) पर पड़ रहे शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ही अपना आप (मैं) मान बैठता है।

प्रकृति से एक सूक्ष्म शरीर और उस से स्थूल शरीर का निर्माण होता है, जीव साक्षी, अकर्ता, दृष्टा एवम नित्य है, इसलिए सूक्ष्म शरीर से ले कर स्थूल शरीर तक जो भी क्रियाएं होती है वह प्रकृति करती है। लोग यह मानते है आत्मा ही देह में आती है, उस में निवास करती है, वह ही विषय का भोग करती है और फिर देह का परित्याग कर के प्रस्थान करती है। जबकि जो कुछ भी होता है, वह प्रकृति कर रही होती है और आत्मा उस में साक्षी या दृष्टा की भांति रहती है। यह सब आना, जाना, करना, भोगना आदि प्रकृति की माया है। इसलिए देह के मिटने से प्रकृति उस सूक्ष्म शरीर को ले जाती है और अन्य देह में स्थापित कर देती है। प्रकृति को क्रियाएं करने के लिए जीव अर्थात आत्मा अर्थात कर्ता चाहिए।

अंत मे तेहरवें अध्याय के 21वे श्लोक में भी यह कहा गया है कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणों को भोक्ता है एवम कठोनिषद भी कहता है कि मन, बुद्धि और इंद्रियो से युक्त आत्मा को ज्ञानी जन भोक्ता कहते है।

मरने वाले व्यक्ति की गति को कौन समझ सकता है, यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.09।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.10॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

"utkrāmantaṁ sthitaṁ vāpi

bhuñjānaṁ vā guṇānvitam

vimūḍhā nānupaśyanti

paśyanti jñāna-cakṣuṣaḥ"

भावार्थ :

जीवात्मा शरीर का किस प्रकार त्याग कर सकती है, किस प्रकार शरीर में स्थित रहती है और किस प्रकार प्रकृति के गुणों के अधीन होकर विषयों का भोग करती है, मूर्ख मनुष्य कभी भी इस प्रक्रिया को नहीं देख पाते हैं केवल वही मनुष्य देख पाते हैं जिनकी आँखें ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो गयी हैं। (१०)

Meaning:

That which leaves, stays and experiences, that which is endowed with gunaas, is not recognized by the deluded. It is seen by those with the eye of wisdom.

Explanation:

Let's recap our analysis of the previous shloka. We saw how a false "I" called the ego is created, by usurping the awareness or sentiency of the eternal essence. All this is possible through the illusory identification of the jeeva with the ego. Shri Krishna now wants to summarize and conclude the topic of the fall of the jeeva by distinguishing between those individuals who recognize, who know the lifecycle jeeva versus those who do not. He says that only those with the eye of wisdom can truly understand the notion of the jeeva as separate and distinct from the physical body, as well as the reason for its existence. Others cannot.

Most of us tend to think that the brain is sentient and self-aware, when it is inert and borrows awareness from the jeeva. Most of us think that what we our senses tell us is real, when it is actually nothing but the play of the three gunaas. Most of us derive enjoyment from the world, when our real nature is that of joy. Most of us think that the "I" is our ego, our ahankaara when it is actually the eternal essence. These incorrect beliefs are collectively termed as ajnyaana or ignorance.

The jnyaana chakshu, the eye of wisdom, refers to those people who have removed all of these incorrect notions. They do not hesitate to challenge any thought, idea, concept or emotion since all of this is in the plane of the three gunaas. On the other hand, most of us will not challenge the long held beliefs about the world that we are programmed with. Since we do not lost our fascination for the world even after being told several times by our scriptures, Shri Krishna addressed us as "vimoodha", completely deluded. How then, do those select few people gain the eye of wisdom? We will see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तो यह शरीर को त्याग देता है, इसे उत्क्रांति कहा गया है। इसी प्रकार शरीर से जो भी तेरा –मेरा मोह माया का व्यवहार होता है एवम उसे वह व्यवहार समझता हुआ विषयो को भोगता हुआ प्रतीत होता है। तृतीय प्रकृति के तीनों गुणों के अंतर्गत वह जो भी कर्म करता है, उसे वह यह मानता है कि वह कर रहा है।

परमात्मा कहते है कि जब जीव मेरा अंश है, नित्य एवम साक्षी है तो यह शरीर त्याग जिसे मृत्यु कहते है अर्थात उत्क्रांति, न ही शरीर मे उस की स्थिति की वह यह शरीर है, न ही प्रकृति के गुणों से उस का व्यवहार एवम विषयो एवम कर्मो का भोग सत्य है। क्योंकि जो अकर्ता है वो कुछ नही करता, इसलिये यह सब उस के प्रकृति के संयोग मात्र से प्रकृति ही करती है।

सरल भाषा में हम कह सकते है कि जीव अज्ञान में शरीर अर्थात देह को अपना स्वरूप समझ लेता है और मृत्यु के समय प्रकृति के गुणों के अनुसार मोह, कामना या आसक्ति अथवा अहंकार के भाव में शरीर को त्यागता है, जिस के कारण उस का अंत समय का भाव, आसक्ति या कामना उसे उसी भाव के अनुसार अन्य शरीर में सूक्ष्म शरीर के साथ प्रविष्ट करा देती है। जो जीव निसंग, कामना रहित, यह ज्ञान रखते हुए, शरीर का त्याग करता है कि वह जिस को त्याग रहा है, वह उस का स्वरूप नही, प्रकृति है, वह मुक्त हो जाता है।

हम यही समझते और मानते है कि आत्मा अजर और अमर है, मरता शरीर है, आत्मा पुराने वस्त्र को त्याग कर नए वस्त्र धारण कर लेती है। किंतु वस्तुतः आत्मा अकर्ता और साक्षी है, वह किसी नए शरीर को धारण करने का कर्म या क्रिया करे तो उस का गुणधर्म ही बदल जाएगा। यह कार्य महंत, अहंकार और सूक्ष्म इंद्रियों युक्त सूक्ष्म शरीर का है, जो कामना, आसक्ति और अहम भाव से आत्मा से लिपटा हुआ है। इसलिए अज्ञानी अपने स्वरूप को न समझते हुए, इसे ही अपना स्वरूप मानता है और प्रकृति के त्रय गुणों के समुच्चय से उत्पन्न भाव में जिस भाव में शरीर त्यागता है, सूक्ष्म शरीर उसी भाव को ले कर अगले शरीर में प्रवेश कर जाती है। जो ज्ञानी इस को जानता है, वह पुनः जन्म को प्राप्त नही होता।

इसलिये जिसे वह मैं–मैं करता हुआ समझता है, वह अज्ञान है। जो ज्ञानी है वह इस समस्त क्रियाओं को जानता है इसलिये साक्षी भाव से होते हुए देखता है।

यह एक सर्वत्र अनुभव सत्य है कि सामान्य बुद्धि का पुरुष यद्यपि वस्तु को देखता है, तथापि उसे पूर्ण तथा यथार्थ रूप से समझ नहीं पाता है। वस्तु का वास्तविक ज्ञान केवल उस विषय के ज्ञानियों को ही उपलब्ध होता है।प्रत्येक व्यक्ति किसी साहित्यिक रचना को पढ़ सकता है, परन्तु एक भाषाविद् पुरुष ही उस रचनाकार की दृष्टि को यथार्थत समझकर उसका पूर्ण आनन्द अनुभव कर सकता है। एक जौहरी ही मणियों के गुणस्तर और वास्तविक मूल्य को आंक सकता है। अन्य लोग केवल देख ही सकते हैं। सभी लोग संगीत सुन सकते हैं, किन्तु एक कुशल संगीतज्ञ ही किसी सर्वोत्कृष्ट गायन की शास्त्रीय सूक्ष्मता एवं सुन्दरता का आनन्द उठा सकता है। इसी प्रकार इसी चैतन्य आत्मा की उपस्थिति से ही हम विषय, भावनाओं और विचारों का अनुभव करते हैं। परन्तु केवल आत्मज्ञानी पुरुष ही इसे पहचानते हैं और स्वयं आत्मस्वरूप बनकर जीते हैं।

आत्मा तो नित्य विद्यमान है। इसका अभाव कभी नहीं होता। देहत्याग के समय सूक्ष्म शरीर को चेतनता प्रदान करने वाला आत्मा ही होता है। एक देहविशेष के जीवन काल में आत्मा ही समस्त अनुभवों को प्रकाशित करता है। सुखदुखात्मक मानसिक अनुभवों तथा बुद्धि के निर्णयों का प्रकाशक भी आत्मा ही है। इसी प्रकार क्षणक्षण परिवर्तनशील हमारे मन के सात्त्विक (शांति), राजसिक (विक्षेप) और तामसिक (मोहादि) भावों का ज्ञान भी चैतन्य के कारण ही संभव होता है फिर भी अविवेकी जन उसे पहचान नहीं पाते जिसकी उपस्थिति से ही कोई अनुभव संभव हो सकता है। सामान्य जन अपने अनुभवों तथा उनके विषयों के प्रति ही इतने अधिक आसक्त और व्यस्त हो जाते हैं कि उनका सम्पूर्ण ध्यान बाह्य विषयों और सुन्दर संरचनाओं की सुन्दरता में ही आकृष्ट रहता है। वे उस आत्मा की उपेक्षा करते हैं तथा उसे पहचान नहीं पाते, जिसकी उपस्थिति से ही कोई अनुभव संभव हो सकता है। इनके सर्वथा विपरीत वे ज्ञानीजन हैं, जो नाम और रूपों के विस्तार से विरक्त होकर इस विस्तार के सार तत्त्व उस ब्रह्म को देखते हैं, जो उनके हृदय में आत्मरूप से स्थित सभी को प्रकाशित करता है। इस आत्मतत्त्व का दर्शन वे ज्ञानचक्षु से करते हैं। ज्ञानचक्षु कोई अन्तरिन्द्रिय नहीं हैं। विवेक वैराग्य आदि गुणों से सम्पन्न साधक जब वेदान्त प्रमाण के द्वारा आत्मविचार करता है, तब उस विचार से प्राप्त आत्मबोध ही ज्ञानचक्षु है।

ज्ञानी जो जानता है वो शरीर के प्रत्येक भोग को अकर्ता भाव से स्वामी हो कर भोगता है अर्थात शरीर छोड़ कर जाते समय, शरीर में रहते समय और विषयों का उपभोग करते समय हरेक अवस्था में ही वह आत्मा वास्तव में प्रकृति से सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोध स्वरूप और असंग ही है, ऐसा समझते है और फिर शरीर को त्याग देता है और अज्ञानी शरीर को गुलामी या दासत्व भाव से भोगता है और शरीर के त्याग के समय दुखी होता है।

यहाँ अज्ञानी को विमूढ़ कहा है, क्योंकि अज्ञान में विवेक खत्म हो जाता है और यह अज्ञानी स्वयं को ज्ञानी समझने लगता है। इस प्रकार का ज्ञानी जो स्वयं अज्ञान में है, संसार को ज्ञान भी देने लगता है और सत्य को स्वीकार करने से इनकार कर देता है। इसे ही विमूढ़ता कहते है जहाँ विवेक या कुछ भी समझने के रास्ते बंद कर के ज्ञानी की भांति व्यवहार करना। इसलिये जिसे शरीर से मोह या आसक्ति है उस के यह ज्ञान अव्यवहारिक होता है। उस के शरीर को प्राप्त करना, धारण करना, उस का उपभोग करना एवम उस का त्याग

करना ही सही होता है एवम उस को अपने नित्य, अकर्ता, साक्षी एवम परब्रह्म के अंश होने का ज्ञान ही नही होता, जब तक उस की आसक्ति एवम मोह का त्याग न हो एवम विवेक का जागरण न हो।

आगे हम पढ़ते है इस को किस प्रकार जाना जा सकता है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.10।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.11॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

"yatanto yoginaś cainaṁ

paśyanty ātmany avasthitam

yatanto 'py akṛtātmāno

nainaṁ paśyanty acetasaḥ"

भावार्थ :

योग के अभ्यास में प्रयत्नशील मनुष्य ही अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को देख सकते हैं, किन्तु जो मनुष्य योग के अभ्यास में नहीं लगे हैं ऐसे अज्ञानी प्रयत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं देख पाते हैं। (११)

Meaning:

Those striving yogis realize this as residing within the self. But those with an unprepared mind, though striving, do not see this, devoid of knowledge.

Explanation:

In any difficult endeavour, there are three kinds of people. There are the vast majority who are not interested the least bit in striving for the goal, and blissfully accept their state as a given. There are a small number of people who are putting in great effort or dedication, but not obtaining the desired outcome. A select few, however, are able to channelize their efforts in the right direction and get what they want.

Shri Krishna called the vast majority of people, the first category, stuck in the cycle of Prakriti "deluded" in the last shloka. Here, he says that it is the preparation of mind that determines whether or not the efforts taken by yogis - those who are striving for liberation - have a chance of success. One without a prepared mind is termed as "akritaatmaanaha" in this shloka. So then, those of us who are aiming for liberation would not like our striving to be in vain. What should we do?

We need to understand what Shri Krishna means by purifying our mind. There are two aspects to this. The first aspect is the degree of selfish desires. Unless we have followed the path of karma yoga and bhakti yoga as laid out in the earlier portions of the Gita, our mind will not be able to properly absorb any scriptural teaching whatsoever. The second aspect is the type of knowledge we are trying to absorb and the method of doing so. A systematic understanding of the scriptures under the guidance of a teacher is the only way. One who does not follow a systematic process of imbibing knowledge is termed "achetasaha", devoid of wisdom.

The topic of the jeeva is concluded in this shloka. with the message that only those with a pure mind and systematic study will truly understand the nature of the jeeva as the eternal essence as though limited by its upaadhis or conditionings.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कई एक प्रयत्न करनेवाले, समाहितचित्त योगीजन, इस आत्माको, जिसका कि प्रकरण चल रहा है, अपने अन्तःकरण में स्थित देखते हैं अर्थात् यही मैं हूँ इस प्रकार आत्मस्वरूप का साक्षात् किया करते हैं। परंतु जिन्होंने तप और इन्द्रियजय आदि साधनों द्वारा अपने अन्तःकरण का संस्कार नहीं किया है, जो बुरे आचरणों से उपराम नहीं हुए हैं, जो अशान्त और घमण्डी हैं, वे अविवेकी पुरुष, शास्त्रादि के प्रमाणों से प्रयत्न करते हुए भी, इस आत्मा को नहीं देख पाते।

व्यावहारीरिक, आध्यात्मिक एवम सांसारिक दृष्टिकोण से यह श्लोक अत्यंत महत्वपूर्ण व्याख्यान है कि ज्ञान द्वारा सफलता का अधिकारी कौन होता है।

जब जीवन के समस्त द्वंद फंद को त्याग कर एकाग्र चित्त से जो अध्ययन, अन्वेषण या परब्रह्म को प्राप्त करने की यत्न करता है वो ही परब्रह्म, अन्वेषण या अपने व्यवसाय या व्यापार में सफल होता है। इस के लिये शुद्ध द्विवेष रहित चित्त होना चाहिए एवम जिस के अंदर कोई भी कामना या आसक्ति न हो। स्थिर एवम स्वच्छ जल में ही तल को हम देख पाते है। अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक अपने धैय के साथ काम मे लगे रहते है फिर कब सफलता हाथ लगे, इस की चिंता नहीं करते।

पूर्व श्लोक में ज्ञानी जीव ही जीव एवम प्रकृति की प्रक्रिया को अलग अलग देख सकता है। वह ज्ञानी जीव जो अनन्य भक्ति भाव से पूर्ण समर्पित हो कर शुद्ध चित्त के साथ परब्रह्म का ध्यान करते है, वो ही पूर्व श्लोक में बताए हुए जीव एवम प्रकृति में दोनों को पृथक पृथक समझ पाते है।

कुछ लोग वर्षों परमात्मा की सेवा करते है, ध्यान एवम ज्ञान योग से परमात्मा की खोज में जीवन व्यतीत करते है, भजन, कीर्तन एवम प्रवचनों के मध्य सत्संग करते है, किन्तु यदि वह किसी आसक्ति, लोभ या कामना अथवा अहम में रहते है, वो परब्रह्म के ब्रह्म स्वरूप को वर्षों की मेहनत के वावजूद भी नही प्राप्त कर पाते क्योंकि उन का अन्तःकरण चित्त शुद्ध नही है।

जब तक दर्पण में मलिनता रहती है, कोई चेहरा स्पष्ट नहीं दिखता। जीव का मन ही दर्पण है, जब तक वह मलिन है। सांसारिक राग के कारण वैराग्य होते हुए भी जीव को परब्रह्म नही दिखता।

पूर्व श्लोक में विमूढ़ शब्द को पढ़ा था। जिस का अन्तःकरण मलिन एवम विक्षप्त हो अर्थात अकृतात्मा हो एवम जिस में बोधशक्ति का अभाव हो अर्थात अचेतस हो। ऐसे दोष से युक्त जीव प्रकृति के तीनों गुणों से बंधा रहता है, इसलिये विमूढ़ है क्योंकि जब तक बंधन में है तब तक अपने को किंतना भी समझदार, ज्ञानी एवम पारखी माने, वह परब्रह्म को समझ ही नही सकता। इसलिये ऐसे लोग परमात्मा के विषय मे बहस इसप्रकार करते है कि स्वयं परमात्मा का दायित्व है कि वो उन्हें सिद्ध हो कर बताए। यह लोग अहम में इतनी बहस करते है, मानो यह यदि परब्रह्म को मान्यता नहीं देंगे तो परब्रह्म ही नही सत्यापित नही होगा।

जानना, मानना और समाहित होने में अंतर को समझने के लिए हम कह सकते है कि शराब स्वास्थ्य के हानिकारक है, यह जानते हुए भी आदत से विवश लोग शराब पीते है, वह जानने वाले अज्ञानी है, शराब पीने की लालसा है किंतु स्वास्थ्य या किसी अन्य कारण से नही पी सकते, यह मानने वाले अज्ञानी है और शराब पीने को उपलब्ध न हो, इसलिए नही पी रहे, यह जानने, मानने और समझने वाले अज्ञानी है। ज्ञानी वह है, जिस के मन और बुद्धि में शराब को देख कर कोई भी लालसा, कामना या विरक्ति की भावना ही उत्पन्न न हो। जो अपने अहम को छोड़ने के लिए योग, तप, भजन – कीर्तन करते है, वह वास्तव में अहम हो छोड़ने के लिए पकड़ कर बैठे होते है।

परमात्मा को प्राप्त करने वाला वही है जिस ने अपने यथार्थ स्वरूप को जान लिया है, कि " यह मैं हूं" इसे के लिए उस ने न कुछ छोड़ा है और न ही कुछ प्राप्त क्या है। जो प्रकृति के तीन गुणों में रहता है, वह मुक्त नहीं है, चाहे शुद्ध सात्विक ही क्यों न हो, परमात्मा को जानने वाला गुणातित ही होता है।

व्यवहारिक जीवन मे राजनीतिक, व्यावसायिक या अध्ययन सम्बंधित ज्ञान में प्रायः इस प्रकार के लोग निर्रथक बहस में रहते है। वो परब्रह्म को नही जानते हुए भी अहम में उस से ऊपर अपने को रखते है, रावण, कंस या हिंरकश्यप इस के साक्षात उदाहरण है। समहितचित्त हुए बिना ज्ञान जब अहंकार का माध्यम बन जाये तो वह विमूढ़ता ही है, फिर कैसे उसे अन्तःकरण में परब्रह के स्वरूप का ज्ञान होगा।

इसलिये परमात्मा ने इस श्लोक से स्पष्ट किया कि उस को जानने वाला कौन हो सकता है, अन्य चाहे वर्षों या जन्म–जन्मांतर तक तप करें, जब तक शुद्ध चित का नहीं होगा, परब्रह्म को नही जान पायेगा। हमे इस तथाकथित बाबा, साधु, प्रवचको एवम मंडलाधीश लोगो को पहचान कर सच्चे व्यक्ति को ही गुरु बनाना चाहिये। गुरु बनाने की होड़ में जो लोग गुरु लोगो की भीड़ लगा लेते है, वो शिष्य भी विमूढ़ ही है।

आगे हम चित्तशुद्धि अर्थात् अहंकार और स्वार्थजनित विक्षेपों का अभाव तथा वेदान्त प्रमाण के द्वारा आत्मानात्मविवेक, जिसके द्वारा अज्ञान आवरण नष्ट हो जाता है, परब्रह पर विचार करते हुए उन के बारे में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.11।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.12॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

"yad āditya-gataṁ tejo

jagad bhāsayate 'khilam

yac candramasi yac cāgnau

tat tejo viddhi māmakam"

भावार्थ :

हे अर्जुन! जो प्रकाश सूर्य में स्थित है जिससे समस्त संसार प्रकाशित होता है, जो प्रकाश चन्द्रमा में स्थित है और जो प्रकाश अग्नि में स्थित है, उस प्रकाश को तू मुझसे ही उत्पन्न समझ। (१२)

Meaning:

That splendour which resides in the sun and illumines the entire world, that which is in the moon and in fire, know that splendour to be mine.

Explanation:

So far we learned about the nature of the individual soul, the jeeva. But if that is all we focus on, we will have incomplete knowledge about our true nature. When we look around us, we see the world in all its beautiful yet complex glory. We need to investigate into the true nature of the world, and realize our identity and connection with that as well. With this view in mind, Shri Krishna now begins to explain his connection with the world around us.

He starts this topic by asserting that the splendour of the sun, the moon, and of fire is possible only because of Ishvara's splendour. We have tremendous awe for the sun's energy, without which life on this earth will not be possible. Shri Krishna says that the sun’s splendour is not its own. It comes from the splendour of Ishvara. Symbolically, the sun represents the organs of perception such as the eyes, ears, nose and so on. Therefore, whenever any sentient being in this world, from a single celled amoeba to a human being becomes aware of something, that awareness, that consciousness, is the power of Ishvara at work.

So whenever we see awareness manifest itself in any organism, we should remind ourselves that the one Ishvara giving awareness to us is the same Ishvara giving awareness to the organisms in the world. In this manner, we can realize the identity of our nature with the world through the common link of awareness.

Furthermore, both the moon and fire derive their energy and splendour from the sun. The moon reflects the light of the sun. Fire also is the manifestation of the sun's energy on a much smaller

scale. Therefore, energy in any form, whether it is dazzling like the sun, cooling like the moon, or warm like fire, is nothing but Ishvara's energy. How does this energy manifest itself in the world? Shri Krishna explains that in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

ज्ञानी जो परब्रह को प्रकृति के साथ देखता है, तो हो सकता परब्रह के अंश की तुलना प्रकृति के भौतिक साधनों से करने लगे। क्योंकि जब हम किसी भी वस्तु, विचार या भावना को प्रकट करते है तो उसे तुलात्मक बना कर किसी सरल उपलब्ध वस्तु के समान बताने का प्रयत्न करते है।

प्रभाव और महत्त्व की ओर आकर्षित होना जीव का स्वभाव है। प्राकृत पदार्थों के सम्बन्ध से जीव प्राकृत पदार्थों के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है। कारण यह है कि प्रकृति में स्थित होने के कारण जीव को प्राकृत पदार्थों शरीर, स्त्री, पुत्र,धन आदि का महत्त्व दीखने लगता है, भगवान् का महत्व गौण हो जाता है। अतः जीव पर पड़े प्राकृत पदार्थों का प्रभाव हटाने के लिये भगवान् अपने प्रभाव का वर्णन करते हुए यह रहस्य प्रकट करते हैं कि उन प्राकृत पदार्थोंमें जो प्रभाव और महत्त्व देखनेमें आता है, वह वस्तुतः (मूलमें) मेरा ही है, उनका नहीं। मेरे ही प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं।

कुवे या तालाब के मेढक को यदि समुद्र का ज्ञान दिया जाए तो वह उस की तुलना कुवे या तालाब से करेगा। अतः प्रकाश और तेज की तुलना का माध्यम सूर्य, चंद्र, तारे और अग्नि, नेत्र से होगा। इसलिए ईश्वर सब के पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि उस का काल से अवच्छेद नहीं है। सम्पूर्ण भौतिक जगत् में सूर्य के समान प्रत्यक्ष प्रभावशाली पदार्थ कोई नहीं है। चन्द्र, अग्नि, तारे, विद्युत् आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे सभी सूर्य से ही प्रकाश पाते हैं। भगवान् से मिले हुए तेज के कारण जब सूर्य इतना विलक्षण और प्रभावशाली है, तब स्वयं भगवान् कितने विलक्षण और प्रभावशाली होंगे ऐसा विचार करनेपर स्वतः भगवान् की तरफ आकर्षण होता है। सूर्य नेत्रों का अधिष्ठातृदेवता है। अतः नेत्रों में जो प्रकाश (देखने की शक्ति) है वह भी परम्परा से भगवान् से ही आयी हुई समझनी चाहिये। जैसे सूर्य में स्थित प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति, दोनों ही भगवान् से प्राप्त (आगत) हैं, ऐसे ही चन्द्रमा की प्रकाशिका शक्ति और पोषण शक्ति, दोनों (सूर्य द्वारा प्राप्त होने पर भी परम्परा से) भगवत्प्रदत्त ही हैं। जैसे भगवान् का तेज आदित्यगत है, ऐसे ही उन का तेज चन्द्रगत भी समझना चाहिये। चन्द्रमा में प्रकाशके साथ शीतलता, मधुरता, पोषणता आदि जो भी गुण हैं, वह सब भगवान् का ही प्रभाव है। यहाँ चन्द्रमा को तारे, नक्षत्र आदि का भी उपलक्षण समझना चाहिये।चन्द्रमा मन का अधिष्ठातृदेवता है। अतः मन में जो प्रकाश (मनन करने की शक्ति) है, वह भी परम्परा से भगवान् से ही आयी हुई समझनी चाहिये। जैसे भगवान् का तेज आदित्यगत है, ऐसे ही उनका तेज अग्निगत भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अग्नि की प्रकाशिका शक्ति और दाहिका शक्ति, दोनों भगवान् की ही हैं, अग्निकी नहीं। यहाँ अग्नि को विद्युत्, दीपक, जुगनू आदिका भी उपलक्षण समझना चाहिये।अग्नि वाणी का अधिष्ठातृदेवता है। अतः वाणी में जो प्रकाश (अर्थप्रकाश करनेकी शक्ति) है, वह भी परम्परा से भगवान् से ही आयी हुई समझनी चाहिये। जो तेज सूर्य,

चन्द्रमा और अग्नि में है और जो तेज इन तीनोंके प्रकाश से प्रकाशित अन्य पदार्थों (तारे, नक्षत्र, विद्युत्, जुगनू आदि) में देखने तथा सुननेमें आता है, उसे भगवान् का ही तेज समझना चाहिये।

परमात्मा अर्जुन के भ्रम को नष्ट करना चाहते जिस से उसे ज्ञात हो कि जगतपिता परमात्मा न केवल जीव का पिता है अपितु समस्त ब्रह्माण्ड में जो जड़ – चेतन प्रकृति है, वह सब उसी से प्रकाशित है।

कुछ अज्ञानी लोग सत्य वही मानते है जिसे प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणित किया जाए। भौतिक या वैज्ञानिक जीवन का आधार प्रमाण है, किन्तु जब अन्वेषण एवम कठिन परिश्रम से उन तथ्यों में कुछ को अविष्कार किया जाता है तो कौन कह सकता है कि यह पहले नही थी। अंतर सिर्फ यही है कि जिसने खोज की, उस ने प्रत्यक्ष किया। परंतु वह प्रत्यक्ष निश्चित विधि एवम उपकरण से ही है, उसी प्रकार परब्रह भी प्रत्यक्ष एक निश्चित विधि से ही है, जिसे हम ने अभी तक पढ़ा भी है कि ज्ञानी किस प्रकार परब्रह का अनुभव करते है।

परमात्मा कहते है जो तेज दीप्ति प्रकाश सूर्य में स्थित हुआ अर्थात् सूर्य के आश्रित हुआ समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, जो प्रकाश करने वाला तेज शशाङ्क चन्द्रमा में स्थित है और जो अग्नि में वर्तमान है, उस तेज को तू मुझ परब्रह की अपनी ज्योति समझ। अथवा जो तेज यानी चैतन्यमय ज्योति, सूर्यमें स्थित है तथा जो चन्द्रमा और अग्नि में स्थित है, उस तेज को तू मुझ परब्रह की स्वकीय (चेतनमयी) ज्योति समझ।

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि क्रमशः नेत्र मन और वाणी के अधिष्ठाता एवं उन को प्रकाशित करने वाले हैं। मनुष्य अपने भावों को प्रकट करने और समझने के लिये नेत्र, मन (अन्तःकरण) और वाणी इन तीन इन्द्रियों का ही उपयोग करता है। ये तीन इन्द्रियाँ जितना प्रकाश करतीं हैं, उतना प्रकाश अन्य इन्द्रियाँ नहीं करतीं। प्रकाशका तात्पर्य है – अलग अलग ज्ञान कराना। नेत्र और वाणी बाहरी करण हैं तथा मन भीतरी करण है। करणों के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है। ये तीनों ही करण (इन्द्रियाँ) भगवान् को प्रकाशित नहीं कर सकते क्योंकि इन में जो तेज या प्रकाश है, वह इनका अपना न होकर भगवान् का ही है।

सूर्य सौर मंडल का प्रमुख है जिस के इर्दगिर्द पूरा सौर मंडल घूमता है। इसी के प्रकाश से पृथ्वी पर जीवन है। चंद्र पृथ्वी का उपग्रह है, जो मन की भावनाओ एवम पृथ्वी पर कई तत्वों को नियंत्रित करता है एवम रात्रि में प्रकाश का माध्यम भी है। अग्नि पृथ्वी पर भोजन एवम प्रकाश का माध्यम है। यह तीनों तत्व स्वच्छ, शुद्ध एवम पोषकता के प्रतीक है, इसलिये मनुष्य इन के तेज से प्रभावित है। इसलिये परमात्मा कहते है जिस परब्रह को ज्ञानी जानते है उस का प्रकाश, स्वच्छता एवम तेज इन पर निर्भर नहीं है वरन यह उस पर निर्भर है। वह स्वयं में तेजोमय, प्रकाशमान, शुद्ध एवम स्वच्छ है।

पुरुषोत्तम योग में परब्रह के स्वरूप की तुलनात्मक व्याख्या चार श्लोकों में की गई है, इसलिये आगे अगली व्याख्या पढ़ते है, जिस से हमारी शंकाओं का निर्मूलन हो।

।। हरि ॐ तत सत।। 15. 12।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.13॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

भावार्थ :

मैं ही प्रत्येक लोक में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सभी प्राणीयों को धारण करता हूँ और मैं ही चन्द्रमा के रूप से वनस्पतियों में जीवन–रस बनकर समस्त प्राणीयों का पोषण करता हूँ। (१३)

"gām āviśya ca bhūtāni

dhārayāmy aham ojasā

puṣṇāmi cauṣadhīḥ sarvāḥ

somo bhūtvā rasātmakaḥ"

Meaning:

Entering the earth, I sustain all beings with my energy, and having become the nectar-giving Soma, I nourish all vegetation.

Explanation:

Physicists devote entire careers to the study of forces. Despite several advances in the field, they are yet to find the grand theory that unifies the different understandings of gravity, electromagnetism, atomic forces and so on. Shri Krishna says that it is Ishvara that enters the earth and sustains every being, every atom in it through his force. Just like there is a force holding our body together, there is a force that holds the earth as one entity. So whenever we admire the granduer and majesty of earth's natural wonders, we should not forget that the very same force holds our body together as one cohesive unit.

Energy requires a medium to travel from its source to its destination. In order to provide nourishment to all living beings, Ishvara resides in the form of nectar, the sap, the essence of all vegetation. A healthy plant-life in any ecosystem ensures the prosperity of animals, birds and humans that depend upon it. Many commentators including Shri Shankaraacharya have translated Soma to mean the moon. It is said that the moon's light enhances the nutrional value of all plant life. This sap, this essence within the plants that gives energy to all life also gives us energy. Moreover, many herbs have medicinal value in additional to their nutritional value, providing yet another layer of benefits to all animals and humans.

In this manner, whether it is energy, nourishment or healing, Ishvara is pulsating through us in the very same manner that he is pulsating through the world. Now, this energy needs to be extracted from its source and absorbed into our bodies. We shall see how Ishvara makes this happen in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में सूर्य, चंद्रमा एवम अग्नि के तेज एवम प्रकाश के गुण को स्वयं से प्रकाशित बताने के बाद, परमात्मा ने पृथ्वी एवम चंद्र के धारण एवम पोषण एवम औषधीय गुणों के वर्णन को अपने से उत्पन्न कहा है।

सोम शब्द के सोमवल्ली और चंद्र दोनो अर्थ है, वेदों में वर्णन है चंद्र जिस प्रकार जलात्मक, अंशुमान और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्ली भी है और दोनो ही वनस्पति और औषधि के राजा है।

इस लोक के प्राणियों के धारण पोषण करने की पृथ्वी की क्षमता, उष्णता, खनिज द्रव्य आदि सभी भगवान् के ओज स्वरूप हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि जो चैतन्य सूर्य की उपाधि में प्रकाश तथा उष्णता के रूप में व्यक्त होता है, वही चैतन्य पृथ्वी में उस की उर्वरा शक्ति और जीवन को धारण करने वाली गुप्त पौष्टिकता के रूप में व्यक्त होता है। रसस्वरूप चन्द्रमा बन कर मैं औषधियों का पोषण करता हूँ वही एक चेतन तत्त्व चन्द्रमा के माध्यम से चन्द्रप्रकाश के रूप में व्यक्त हो कर वनस्पतियों को पौष्टिक तत्त्वों से भर देता है।

प्राकृतिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सक भी कुछ औषधियों को किसी निश्चित अवधि तक चन्द्रमा के प्रकाश में रखते हैं और उन का यह कथन है कि इस से उन औषधियों में रोगोपचार की क्षमता आ जाती है। इस श्लोक में इन सभी तथ्यों को इंगित मात्र किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का कथन अवैज्ञानिक नहीं है। भौतिक जगत् के सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि ये ऊर्जा के स्रोत वस्तुत अनन्तस्वरूप परमात्मा ही हैं। सूर्य में यह प्रकाश है और चन्द्रमा में वह रसस्वरूप पोषक तत्त्व है। वही चैतन्य पृथ्वी में प्रवेश कर समस्त प्राणियों का धारण पोषण करने वाला बन जाता है।

जिस के फल पकने से पौधा सूख जाए उसे औषधि कहा जाता है जैसे धान, गेहूं आदि। अन्न जो भोजन के रूप ने खाया जाए। अपने को बोध कराते हुए जो अपने से अतिरिक्त का बोध कराए उसे उपलक्षण कहते है। सभी प्रकार की क्षुधा रूपी रोग का उपचार अन्न रूपी औषधि ही है। औषधि समस्त पदार्थो का बोध कराती है जिस से न केवल रोग, या क्षुधा शांत होती है, बल्कि यह प्राणी की ऊर्जा के लिये खाद्य पदार्थ है। इसलिये समस्त औषधि परब्रह ही उत्पन्न कर के उपलब्ध करवाते है।

पृथ्वी सौर मंडल का महत्वपूर्ण ग्रह है एवम चंद्रमा पृथ्वी का उपग्रह। यह सर्वविदित है कि सूर्य से ले कर समस्त सौर मंडल के ग्रह अपनी धुरी में धूमते है एवम चन्द्रमा पृथ्वी का या उपग्रह अपने अपने ग्रहों के और सब ग्रह सूर्य के चक्कर अपनी अपनी परिधि में लगाते है। इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड फैला हुआ है। कोई नही बता सकता कि यह किस पर टिका है एवम जिस आकर्षण शक्ति से यह घूमते है वो कहाँ से गति को प्राप्त है। परमात्मा कहते है मैं ही पृथिवी में प्रविष्ट होकर अपने उस बल से, जो कि कामना और आसक्ति से रहित मेरा ऐश्वर्यबल जगत् को धारण करने के लिये पृथिवी में प्रविष्ट है, जिस बल के कारण भारवती पृथिवी नीचे नहीं गिरती और फटती भी नहीं, सारे जगत् को धारण करता हूँ। यही बात वेदमन्त्र भी कहते हैं कि जिस से द्युलोक और भारवती पृथिवी दृढ़ है तथा वह पृथिवीको धारण करता है इत्यादि। अतः यह कहना ठीक ही है कि मैं पृथिवी में प्रविष्ट होकर चराचर समस्त भूतप्राणियों को धारण करता हूँ। परब्रह ही इन सब का जनक है क्योंकि यह सब उसी से उत्पन्न है, इन की ऊर्जा, गति या आकर्षण शक्ति एवम ब्रहांड का आधार यही परब्रह ही है। इस प्रकार संपूर्ण ब्रहाण्ड और उस के गति, आकर्षण और धुरी की शक्ति को परमात्मा ने अपना बताया है। आज भी वैज्ञानिक अपनी बिग बैग सिंद्धान्त में इस को God particle का नाम दिया है। हजारों साल पहले जिस तत्व को ऋषियो ने जिस तत्व की व्याख्या की थी, नासदीय सूक्त में हम ने पढ़ा भी था, उसी परब्रह की खोज आज का विज्ञान भी कर रहा है एवम जिस का अनुसंधान का माध्यम यह वेद ही है।

हमे यह ध्यान रहना चाहिए कि अभी हम परब्रह को जानने की चेष्टा भौतिक साधनों से तुलनात्मक कर रहे है। परमात्मा कहते है मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपने उस बल से, जो कि कामना और आसक्ति से रहित मेरा ऐश्वर्यबल जगत् को धारण करने के लिये पृथ्वी में प्रविष्ट है, जिस बल के कारण भारवती पृथ्वी नीचे नहीं गिरती और फटती भी नहीं, सारे जगत् को धारण करता हूँ। यही बात वेदमन्त्र भी कहते हैं कि जिससे द्युलोक और भारवती पृथ्वी दृढ़ है तथा वह पृथ्वी को धारण करता है इत्यादि। अतः यह कहना ठीक ही है कि मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर चराचर समस्त भूत प्राणियों को धारण करता हूँ तथा मैं ही रसस्वरूप चन्द्रमा होकर पृथ्वी में उत्पन्न होनेवाली धान, जौ आदि समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ अर्थात् उनको पुष्ट और स्वादयुक्त किया करता हूँ।

जो सब रसों का आत्मा है, रस ही जिसका स्वभाव है, जो समस्त रसों की खानि है वह सोम है, वही अपने रस का सञ्चार कर के, समस्त वनस्पतियों का पोषण किया करता है।

आगे अग्नि स्वरूप परब्रह उत्पन्न ऊर्जा के स्वरूप को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.13।।

।। हिंग्स बोसोन, बिग बैंग और गॉड पार्टिकल और सनातन धर्म में वेद ।। विशेष – गीता 15.13 ।।

बिग बैंग

1927 में जॉर्जिस लेमाइटर ने बिग बैंग के सिद्धांत का प्रस्ताव रखा था। 1929 में ऐडविन हबल नाम के वैज्ञानिक ने इस सिद्धांत का विश्लेषण और अध्ययन किया। स्टीफन हॉकिंग ने इसे यूं समझाया, करीब 15 अरब साल पहले पूरा ब्रह्मांड एक बिंदु के रूप में सिमटा हुआ था या यूं समझ लीजिए कि पूरी दुनिया की रचना जिन कणों और ऊर्जा के कारण संभव हुई, वह एक छोटे से गेंद जैसी चीज में समाए हुए थे। फिर अचानक से एक घटना हुई और बिंदु में मौजूदा कण हर तरफ फैल गए। ये कण तेजी से एक–दूसरे से दूर भागने लगे। इस घटना को ही बिग बैंग के नाम से जाना जाता है। वैसे बिग बैंग को कुछ लोग महाविस्फोट समझ लेते हैं और कहते हैं कि एक महाविस्फोट से दुनिया का जन्म हुआ है। लेकिन यह सही नहीं है। हकीकत यह है कि अचानक ब्रह्मांड के सिमटे हुए बिंदु का विस्तार शुरू हो गया था जो अब तक जारी है।

वेदों में यह कहा गया है कि वह अकेला ही अव्यक्त स्वरूप में था और फिर उस में एक से अनेक होने का संकल्प आया और इस सृष्टि की रचना हुई।

हिग्स बोसोन

हिग्स बोसॉन (Higgs boson) एक मूल कण है जिसकी प्रथम परिकल्पना 1964 में दी गई। और इसका प्रायोगिक सत्यापन 14 मार्च 2013 को किया गया। इस आविष्कार को एक 'यादगार' कहा गया क्योंकि इससे हिग्स क्षेत्र की पुष्टि हो गई। कण भौतिकी के मानक मॉडल द्वारा इसके अस्तित्व का अनुमान लगाया गया है। वर्तमान समय तक इस प्रकार के किसी भी कण के विद्यमान होने का ज्ञान नहीं है। हिग्स बोसॉन को कणो के द्रव्यमान या भार के लिये जिम्मेदार माना जाता है। प्रायः इसे अंतिम मूलभूत कण माना जाता है।

कर्णाद ऋषि के न्यायिक शास्त्र का परमाणुवाद का ही सिद्धांत है। वेदांत जिसे परमात्मा कहता है, जो संपूर्ण सृष्टि का आधार है, उस की परिकल्पना अव्यक्त और सूक्ष्मतम कण से ही की गई है।

दुनिया में मौजूद सभी चीजों का निर्माण कणों से हुआ है। कणों ने मिलकर चीजों को बनाया। बात इस तरह से है, हमारे ब्रह्मांड में मौजूद सभी चीजें ऐटम से मिलकर बनी हैं। एक ऐटम इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन और प्रोटॉन नाम के तीन कणों से बना होता है। ये कण भी सबऐटॉमिक पार्टिकल से मिलकर बने होते हैं जिनको क्वार्क कहा जाता है। इन कणों का द्रव्यमान अब तक रहस्य बना रहा है। प्रोटॉन और न्यूट्रॉन जैसे कणों में द्रव्यमान यानी वजन होता है जबकि फोटॉन में नहीं होता है। यह एक गुत्थी थी कि आखिर कुछ कणों में वजन होता है जबकि कुछ में नहीं। आखिर ऐसा क्यों होता है, इस गुत्थी को पीटर हिग्स और पांच अन्य वैज्ञानिकों ने साल 2012 में सुलझाने की कोशिश की। उन्होंने हिग्स बोसोन का सिद्धांत दिया। उनके सिद्धांत के मुताबिक, बिग बैंग के तुरंत बाद किसी भी कण में कोई वजन नहीं था। जब ब्रह्मांड ठंडा हुआ और तापमान एक निश्चित सीमा के नीचे गिरता चला गया तो शक्ति की एक फील्ड पूरे ब्रह्मांड में बनती चली गई। उस फील्ड के अंदर बल था और उसे हिग्स फील्ड के नाम से जाना गया। उन फील्ड्स के बीच कुछ कण थे जिनको पीटर हिग्स के सम्मान में हिग्स बोसोन के नाम से जाना गया। इसे ही गॉड पार्टिकल भी कहा जाता है। उस सिद्धांत के मुताबिक, जब कोई कण हिग्स फील्ड के प्रभाव में आता है तो हिग्स बोसोन के माध्यम से उसमें वजन आ जाता है। जो कण सबसे ज्यादा प्रभाव में आता है, उसमें सबसे ज्यादा वजन होता है और जो प्रभाव में नहीं आता है, उसमें वजन नहीं होता है। उस समय तक सिर्फ यह अनुमान था कि हिग्स बोसोन नाम का कण ब्रह्मांड में मौजूद है लेकिन जुलाई 2012 में स्विटजरलैंड में वैज्ञानिकों ने हिग्स कण के खोजने की घोषणा की।

गॉड पार्टिकल क्यों अहम है?

हमारी इस दुनिया की रचना में भार या द्रव्यमान का खास महत्व है। भार या द्रव्यमान वह चीज है जिसको किसी चीज के अंदर रखा जा सकता है। अगर कोई चीज खाली रहेगी तो उसके परमाणु अंदर में घूमते रहेंगे और आपस में जुड़ेंगे नहीं। जब परमाणु आपस में जुड़ेंगे नहीं तो कोई चीज बनेगी नहीं। जब भार आता है तो कण एक-दूसरे से जुड़ता है जिससे चीजें बनती हैं। ऐसा मानना है कि इन कणों के आपस में जुड़ने से ही चांद, तारे, आकाशगंगा और हमारे ब्रह्मांड की अन्य चीजों का निर्माण हुआ है। अगर कण आपस में नहीं मिलते तो इन चीजों का अस्तित्व नहीं होता और कणों को आपस में मिलाने के लिए भार जरूरी है।

यूं नाम पड़ा गॉड पार्टिकल

अमेरिका के एक वैज्ञान लेऑन लीडरमैन ने 1993 में एक पुस्तक लिखी थी। उस पुस्तक में उन्होंने कणों के द्रव्यमान और परमाणु के बनने की प्रक्रिया को समझाया था। उन्होंने किताब का नाम The Goddamn Particle रखा था। लेकिन प्रकाशक को यह नाम पसंद नहीं आया तो उन्होंने इसका नाम बदलकर The God Particle कर दिया। इस तरह से इसको गॉड पार्टिकल कहा जाने लगा। इसका भगवान से कोई लेना-देना नहीं है। दरअसल इंग्लिश के शब्द Goddamn को गुस्सा या चिड़चिड़ाहट व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किया जाता

है। इसी चीज को ध्यान में रखते हुए लीडरमैन ने गॉडडैम का इस्तेमाल किया ताकि वह यह दिखा सके कि इस कण को खोजने में कितनी परेशानी का सामना करना पड़ा।

यदि हम वेद के ज्ञान से पढ़ कर समझे तो परब्रह (जिसे अभी हम गीता पुरुषोत्तम योग में पढ़ रहे है), वर्षों पहले ही ऋषि मुनियों ने खोज के अपनी वाणी में व्यक्त किया। वेद एवम उपनिषद पूर्णतः प्रमाणित ग्रंथ है, जिसे हम अध्यात्म से ज्यादा एवम वैज्ञानिक या अनुसंधान की दृष्टि से कम पढ़ते है। इस ज्ञान पर अनुसंधान की पूर्ण आवश्यकता है। धर्म का मार्ग आस्था, श्रद्धा, विश्वास ही नही ज्ञान एवम विवेक भी है। इस के अभाव में आस्था, श्रद्धा एवम विश्वास मात्र कर्मकांड एवम अंधविश्वास बन जाता है। इसलिये गीता विवेक का ज्ञान भी है जो अर्जुन को मोह, अंधविश्वास से मुक्त करती है। शंकराचार्य रचित विवेक चूड़ामणि विवेक विचार किस प्रकार करना चाहिये, के लिये एक उत्तम पुस्तक है।

धर्म का आधार श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और विश्वास होता है किंतु जब यह श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और विश्वास ज्ञान से परिपूर्ण न हो तो इस का दुरुपयोग होने भी देरी नहीं होती। ज्ञान, विज्ञान, अनुभव एवम प्रमाणिकता के आधार पर को हमे स्वीकार करने और पालन करने को ब्रह्मसंध या तत्वविद महान ऋषि – मुनियों ने कहा है, उसे हम मात्र श्रद्धा और विश्वास में बिना अभ्यास और अध्यास के करते रहे तो समस्त क्रियाएं कर्मकांड और अंधविश्वास में परिवर्तित हो जाती है। परमात्मा कहते है जो मुझे अनन्य भाव से पूजते है उन को ज्ञान मैं देता हुं। किंतु जब लोग भक्ति और पूजा स्वार्थ और कामना में करते है तो यह अंधविश्वास और कर्मकांड हो जाता है। हम यह अवश्य कह सकते है कि कुछ नही करने से धीरे धीरे ही सही, जो इस मार्ग में कदम रखता है, वह परमात्मा की अनुकंपा से कभी भी मोह, राग – द्वेष से मुक्त हो सकता है।

सनातन धर्म किसी व्यक्ति विशेष के पूजन या समर्पण का धर्म न हो कर, वर्षो के ऋषि – मुनियों के दार्शनिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और प्रामाणिक दर्शन और विचारो। का संग्रह है। इस में प्रत्येक विचार को समान सम्मान देने से, इस का विस्तार भी होता गया। इसलिए इस धर्म में निर्माण, समाज, विज्ञान, संगीत, नृत्य, औषधि, रसायन आदि समस्त विषय का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक युग में GOD PARTICAL का सिद्धांत से ले कर पूर्व के बैटरी, रॉकेट, विमान आदि समस्त की जानकारी वेदों में उपलब्ध है,किंतु हम सरल जीवन के आदि होने से, इन का गहन अध्ययन नही करते।

हमारे ग्रंथो को हम ने अध्ययन की पुस्तक न समझते हुए, पूजन की विषय वस्तु बना दिया। कालांतर में राग – द्वेष में हमारे प्रबुद्ध वर्ग ने अपने वर्ण के अनुसार अपने दायित्व का पालन न करते हुए, स्वार्थ, लोभ और अपनी जातीय शत्रुता से आक्रमणकारियो को इस देश की संस्कृति पर हमला कर के गुलामी में जकड़ दिया। सैकड़ों शताब्दियों की गुलामी ने हमारी विचारधारा को कुंठित कर के हमे ज्ञान के विषय में शिक्षित होने नही दिया और ज्ञान का अर्थ हम समाज में आर्थिक निर्भरता ही समझने लग गए। फिर भी अध्यात्म एक स्वाभाविक मानसिक दशा है, इसलिए सात्विक विचार धारा हमे प्रभावित करती है और हम उस के विचार आदान प्रदान करते रहते है। पश्चिम देशों में हमारे बचे हुए प्राचीन ग्रंथो को अध्ययन का विषय बनाया और उस पर शोध करते हुए, हम से कही आगे निकल गए।

गॉड पार्टिकल का पता लगाने के लिए दुनियाभर के 111 देशों के हजारों वैज्ञानिक पिछले 40 सालों से जद्दोजहद कर रहे हैं। ये वैज्ञानिक फ्रांस और स्विट्जरलैंड की सीमा पर जेनेवा में सबसे बड़ी प्रयोगशाला में काम कर रहे हैं। यह प्रयोगशाला जमीन के 300 फीट नीचे बनी है। प्रयोग 27 किमी लंबे लार्ज हेड्रोन कोलाइडर (एलएचसी) में चल रहा है। एलएचसी प्रोजेक्टी पर 10 अरब डॉलर खर्च हो चुके हैं।

वैज्ञानिक 'बिग बैंग' थ्योरी की सच्चाई जानने की कोशिश कर रहे हैं। अब तक माना जाता है कि 13.7 खरब साल पहले हुए महा विस्फोट (बिग बैंग) से ब्रह्मांड अस्तित्व में आया। इसी दौरान एक कण का जन्म हुआ, जिसे हिग्स बोसॉन का नाम दिया गया। हिग्स बोसॉन से ही सभी चीजों की उत्पत्ति हुई है। एलएचसी में कृत्रिम तरीके से महा विस्फोट की स्थिति पैदा की गई। एलएचसी में आयनों की टक्कर से 10 खरब सेल्सियस का तापमान पैदा किया गया। यह सूरज के केंद्र में मौजूद तापमान से भी लाखों गुना ज्यादा है।

और आश्चर्य यह की यह सब ऋग्वेद के नसदीय सुक्त जिन को हम पहले पढ़ चुके है, के आधार पर है, जिसे हम नही जानते।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष गीता 15.13 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.14॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

"ahaṁ vaiśvānaro bhūtvā

prāṇināṁ deham āśritaḥ

prāṇāpāna-samāyuktaḥ

pacāmy annaṁ catur-vidham"

भावार्थ :

मैं ही पाचन–अग्नि के रूप में समस्त जीवों के शरीर में स्थित रहता हूँ, मैं ही प्राण वायु और अपान वायु को संतुलित रखते हुए चार प्रकार के (चबाने वाले, पीने वाले, चाटने वाले और चूसने वाले) अन्नों को पचाता हूँ। (१४)

Meaning:

Residing in the bodies of all beings, I become Vaishvaanara. In conjunction with Praana and Apaana, I digest the four types of food.

Explanation:

Previously, we saw how Ishvara sustained and nourished all beings on this earth by providing them with nutrition in the form of plant life and vegetation. The energy stored in this food has to be absorbed and assimilated into all living beings. How does that happen? Shri Krishna says that Ishvara manifests himself as Vaishvaanara, the fire inside all living beings which represents the process of metabolism.

It is a wonder that we are able to eat such a large variety of food, and yet derive enough energy to keep our bodies running throughout our lives, all due to the functioning of the Vaishvaanara fire. It is supported by two vayus or forces known as the Praana and the Apaana vayus. The Praana vayu brings food towards the digestive organs. Vaishvaanara is the process of digestion and metabolism. The Apaana vayu pushes non-essential portions of the food out into the world.

We also come across the four types of food that are referenced in scriptures. These are : food that can be chewed such as rice, food that can be sucked such as mango nectar, food that can be drunk such as fruit juices, and food that can be licked such as pickles. The Vaishvaanara fire can convert all these types of food into energy for the body.

So we see that production, distribution and ultimate consumption of energy that happens in us, and happens in any other living being, is nothing but Ishvara. Ishvara is the producer, distributor and consumer. Remembering this topic is a great way to reduce our ego and see our oneness with the world. Many people in India, in fact, chant the 15th chapter before their meals in order to pray for good digestion.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा द्वारा अग्नि के माध्यम बनाते हुए, जीव के प्राण एवम जीवन का माध्यम अपने को कहा है।

भोजन प्राकृतिक देह का ऊर्जा स्थल है, इस से शरीर को वृद्धि, स्वस्थ शरीर और मन और कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है। जैसा भोजन, वैसा मन और शरीर किंतु जब तक यह भोजन पच। कर संपूर्ण शरीर में ऊर्जा प्रवाहित नही करता, शरीर की किसी भी क्रिया को करना संभव नही। अतः शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं में सब से महत्वपूर्ण ऊर्जा को परमात्मा अपने से जोड़ रहे है। घर में रसोईघर और किसी भी गाड़ी के लिए ईंधन के जलने और उस से उत्पन्न ऊर्जा के महत्व को कोई इंकार नहीं कर सकता। पैदल या साइकल पर भी चलने के लिए ऊर्जा लगती है।

अग्नि तत्व चार प्रकार का होता है। 1) भौम – हवन, रसोई आदि में जो उत्पन्न अग्नि है। 2) दिव्य – जल ही जिस का ईंधन है, जैसे सूर्य में उत्पन्न अग्नि, 3) औदर्य – उदर की अग्नि जिसे जठरानल अग्नि कहते है, जो हमारे भोजन को पचाती है, 4) आकरज अग्नि – जैसे खनिज वगैरह में जो अग्नि लगती है वह आकरज अग्नि है।

शरीर में प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान – ये पाँच प्रधान वायु एवं नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय – ये पाँच उपप्रधान वायु रहती हैं। इस श्लोक में भगवान् दो प्रधान वायु – प्राण और अपानका ही वर्णन करते हैं क्योंकि ये दोनों वायु जठराग्नि को प्रदीप्त करती हैं। जठराग्नि से पचे हुए भोजन के सूक्ष्म अंश या रस को शरीर के प्रत्येक अङ्ग में पहुँचाने का सूक्ष्म कार्य भी मुख्यतः प्राण और अपान वायु का ही है।

प्राणी चार प्रकार के अन्नका भोजन करते हैं ,(1) भोज्य – जो अन्न दाँतों से चबाकर खाया जाता है जैसे रोटी, पुआ आदि (2) पेय – जो अन्न निगला जाता है जैसे खिचडी, हलवा, दूध रस आदि (3) चोष्य – दाँतों से दबाकर जिस खाद्य पदार्थ का रस चूसा जाता है और बचे हुए असार भाग को थूक दिया जाता है जैसे – ऊख, आम आदि। वृक्षादि स्थावर योनियाँ इसी प्रकार से अन्न को ग्रहण करती हैं, (4) लेह्य – जो अन्न जिह्वा से चाटा जाता है जैसे – चटनी, शहद आदि। अन्नके उपर्युक्त चार प्रकारों में भी एक एक के अनेक भेद हैं।

भगवान् कहते हैं कि उन चारों प्रकार के अन्नों को वैश्वानर (जठराग्नि) रूप से मैं ही पचाता हूँ। अन्न का ऐसा कोई अंश नहीं है, जो मेरी शक्ति के बिना पच सके। पृथ्वी पोषक भोजन देती है, तो प्राण वायु अग्नि से उसे शरीर मे पकाती है, वैश्वानर अर्थात जठराग्नि से भोजन पकता है और प्राण से शरीर के विभिन्न अंगों तक यह पोषक तत्व पहुचता है। अपान वायु अवशिष्ट को बाहर करता है। यह क्रिया जीव के जीवन के सतत रहने की महत्व पूर्ण क्रिया है जो परमात्मा द्वारा ही जीवन के रूप में जीव यह क्रिया की जाती है।

अध्याय चार में स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण ने इंद्रियाग्नि, सयंमाग्नि, योगाग्नि, प्राण–अपानाग्नि, ब्रह्माग्नि इत्यादि तेरह–चौदह अग्नियों का उल्लेख किया, जिन में सब का परिणाम ज्ञान है। ज्ञान ही अग्नि है। परमात्मा ही अग्नि स्वरूप हो कर प्राण–अपान से युक्त बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति एवम परा चार प्रकार तैयार होने वाले अन्न को पचाते है। ब्रह्म ही एक मात्र अन्न है जिसे जीव जप, प्राण– अपान द्वारा ग्रहण करता है और पूर्ण ब्रह्मतत्व को प्राप्त करता है। ब्रह्म तत्व तप की अग्नि से लिया हुआ, मिलता है, पचता है और परिपक्क हो कर जीव को ब्रह्मतत्व से मिला देता है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार भी प्रकृति–जीव के संयोग से उत्पन्न जीव की समस्त क्रियाओं का स्त्रोत ऊर्जा है जिस से वृद्धि, शक्ति एवम क्रिया होती है। यह ऊर्जा उस भोजन से प्राप्त होती है जो जीव ग्रहण कर के पचा कर उस के पोषक तत्व पूरे शरीर मे संचारित कर सके। अतः उस के लिये अग्नि तत्व भी महत्व पूर्ण है। परमात्मा कहते है, जीव के सभी भोजन को पचाने की क्रिया का अग्नितत्व में ही हूँ अतः जीव की समस्त प्राकृतिक क्रिया का संचार परमात्मा से ही होता है। इसलिये हम जो भी भोजन ग्रहण करते है, हमारी सोच, विचार, अचार एवम समस्त कर्म का स्त्रोत हमारे द्वारा ग्रहण किया अन्न ही है।

अध्याय दस के 41वें श्लोक में प्रत्येक प्राणी के तेज को अपनी उत्पत्ति बताते हुए, उन ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त, शक्तियुक्त तेज जो प्रकाशन शक्ति, धारण शक्ति, पोषण शक्ति और पाचन शक्ति आदि से उत्पन्न होता है, परमात्मा अपने स्वरूप का वर्णन सब प्रकार से जानने हेतु बताते है।

भौतिक स्वरुप में सब ब्रह्मांड में मूल में परमात्मा को समझने के बाद आत्मिक स्वरूप के परब्रह को आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत। 15. 14।।

महाभारत का "नव सार सूत्र" सबके जीवन में उपयोगी सिद्ध होगा...

---

1) "संतानों की गलत माँग और हठ पर समय रहते अंकुश नहीं लगाया, तो अंत में आप असहाय हो जायेंगे" = कौरव

2) "आप भले ही कितने बलवान हो, लेकिन अधर्म के साथ हो, तो आपकी विद्या, अस्त्र, शस्त्र, शक्ति और वरदान, सब निष्फल हो जायेगा।" = कर्ण

3) "संतानों को इतना महत्वाकांक्षी मत बना दो, कि विद्या का दुरुपयोग कर स्वयंनाश कर, सर्वनाश को आमंत्रित करे" = अश्वत्थामा

4) "कभी किसी को ऐसा वचन मत दो कि आपको, अधर्मियों के आगे समर्पण करना पड़े," = भीष्म पितामह

5) "संपत्ति, शक्ति व सत्ता का दुरुपयोग और दुराचारियों का साथ, अंत में स्वयंनाश का दर्शन कराता है" = दुर्योधन

6) "अंध व्यक्ति – अर्थात मुद्रा,मदिरा,अज्ञान,मोह और काम (मृदुला) अंध व्यक्ति के हाथ में सत्ता भी, विनाश की ओर ले जाती है।" = धृतराष्ट्र

7) "व्यक्ति के पास विद्या विवेक से बँधी हो, तो विजय अवश्य मिलती है।" = अर्जुन

8) "हर कार्य में छल, कपट व प्रपंच रच कर, आप हमेशा सफल नहीं हो सकते।" = शकुनि

9) "यदि आप नीति, धर्म व कर्म का सफलता पूर्वक पालन करेंगे, तो विश्व की कोई भी शक्ति आपको पराजित नहीं कर सकती।" = युधिष्ठिर

रीति,नीति,विद्या,विनय,

ये द्वार सुमति के चार,

इनको पाता है वही,

जिसका हृदय उदार,

यदि इन 09 सूत्रों से सबक ले पाना सम्भव नहीं होता है, तो महाभारत संभव हो जाता है...!!

*आज सिर्फ संकलन *...../

जय श्री कृष्णा

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.15॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥_

"sarvasya cāhaṁ hṛdi sanniviṣṭo

mattaḥ smṛtir jñānam apohanaṁ ca

vedaiś ca sarvair aham eva vedyo

vedānta-kṛd veda-vid eva cāham"

भावार्थ :

मैं ही समस्त जीवों के हृदय में आत्मा रूप में स्थित हूँ, मेरे द्वारा ही जीव को वास्तविक स्वरूप की स्मृति, विस्मृति और ज्ञान होता है, मैं ही समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ, मुझसे ही समस्त वेद उत्पन्न होते हैं और मैं ही समस्त वेदों को जानने वाला हूँ। (१५)

Meaning:

And I am seated in the hearts of all beings. From me arise memory, knowledge and their loss. It is only I who am to be known through the Vedas. Only I am the author of Vedanta, and the knower of the Vedas.

Explanation:

As humans, it is not enough for us to spend our lives seeking out sources of food for existence. We crave knowledge in all its forms - knowledge of the material world, how things work, history, geography, sciences and the arts. We also crave that knowledge which is not tangible but is part and parcel of our lives - aspirations, values, codes of conduct and so on. Shri Krishna says that he is both

the producer and consumer of knowledge in our lives. The sum total of all knowledge is referred to as the Vedas in this shloka.

The assimilation of knowledge goes through three steps. In the first step, we do not know anything, this is the state of apohanam, absence of memory. Next, we know something, knowledge happens, this is jnyaanam. Finally, this knowledge is stored in memory, this is smritihi. All these steps towards the acquisition of knowledge happen due to Ishvara, who is seated in our intellect, poetically referred to as hridi or intellect. So whenever we learn something new, or we recall something from our memory, we should understand that Ishvara is functioning as the subject and the object, the knower and the known, in this process of knowledge acquisition.

But that is not all. The ultimate knowledge, the entire theme of the Bhagavad Gita, is that knowledge which reveals the true nature of the self and its identity with Ishvara. It is handed down from a teacher to a student through tradition. It is found in the end, the conclusion, the anta of the Vedas. Therefore it is known as Vedanta. So the knowledge that reveals the true nature of the self is none other than Ishvara. In other words, only the self can know itself, a statement found in the Jnyaaneshwari's opening statement "jaya jaya sva samvedyaa" - salutations to that which knows itself.

With this shloka, Shri Krishna concludes the topic of Ishvara's manifestations which began in the twelfth shloka. The change in metre reinforces the conclusion. We learned that ultimately, it is Ishvara that provides awareness, nourishment, food, and the power to absorb food as well as knowledge to all beings on this. Not only does he produce all of this, he consumes it as well. If we truly let this statement sink in, we will realize that our false "I", our ego, is nowhere to be found.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा समस्त भौतिक वस्तु का प्रकाश, तेज एवम ओज है जिस से वह वस्तु पहचानी जाती है। इसी प्रकार प्रकृति में जीव की समस्त जीवन क्रिया का मूल है, जिस से प्रकृति में जीव रह कर कर्म करता है। इस परमात्मा के स्वरूप को पहचानने के ज्ञान की आवश्यकता है, विज्ञान कारण तक हमे ले जा सकता है लेकिन जो कारण का भी कारण के, उसे विज्ञान नही खोज पा रहा।

स्वामी विवेकानंद जी कहते है प्रकृति के रहस्य एक रबड़ की नली जैसे है जो उसे फुलाता है, उस के लिये वह फूल कर प्रकाश मार्ग खोल कर स्पष्ट हो जाती है किंतु उस के जाने के बाद यथावत अपने रहस्य मयी स्वरूप में रहती है। इसलिये ज्ञान एक सतत एवम सभी के अनिवार्य प्रक्रिया है, इस के अतिरिक्त यदि आप गुरु द्वारा फुलाये मार्ग पर तभी तक बढ़ सकते है, जब तक गुरु का ज्ञान आप के साथ है और इसे आप आत्मसात कर

लेते है। क्योंकि वेदों द्वारा प्राप्त ज्ञान को सतत नही रखा गया इसलिये प्रकृति आज भी हमे उतनी रहस्यमयी लगती है जितनी हमारे पूर्वज ऋषि मुनियों को थी। वो अन्वेषक थे, इस लिये परत दर परत रहस्य खोलते गए। हमे उस ज्ञान को जानना इसलिये ही आवश्यक है कि हम उन के ज्ञान से प्रकृति के रहस्यों को जान सके। हाथ जोड़ कर, बत्ती लगा कर श्रद्धा भाव तो उत्पन्न हो जाता है किन्तु ज्ञान पठन, मनन एवम स्मृति से प्राप्त होता है।

परमात्मा कहते है कि हर प्राणी के हृदय में मैं ही बसता हूँ। इसलिये हृदय में जो प्रकाश है, जिस से जीव को भूत का ज्ञान अर्थात स्मृति वृति रहती है, वर्तमान का ज्ञान अर्थात अनुभव वृति का रहना एवम ज्ञान का लोप होता है, वह प्रकाश मुझ से होता है। वेदों द्वारा जानने योग्य जो भी ज्ञेय है वह भी मै ही हूँ। इसलिये ज्ञाता, ज्ञान एवम ज्ञेय रूप में समस्त त्रिपुतियाँ मुझ से ही सिद्ध होती है, जो भी क्षर–अक्षर, व्यक्त–अव्यक्त, जड़–चेतन एवम सूक्ष्म–बृहद ब्रह्मांड में है वह सब मुझ से ही है, वह सब मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नही।

मस्तिष्क की सरंचना अदभुत है, आधुनिक मानव इस की नकल कर के कंप्यूटर और कृत्रिम बुद्धिमत्ता बना कर रोबोट बना रहा है। किसी बात, चित्र, चेहरे को पहचान पाना, सत्य क्या है, जानते हुए झूठ बोलना, किसी कार्य को कुशलता से करना, व्यवहार करना आदि सभी स्मृति, विस्मृति, प्रदर्शन आदि सभी कार्य यह मस्तिष्क ही करता है, स्वस्थ और क्रियाशील मस्तिष्क किसी का समस्त व्यक्तित्व होता है। यह परमात्मा ने कहा है, कि यह समस्त स्मृति, ज्ञान, इन का अपोहन समस्त मैं ही हूं।

पहले देखी – सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादि के स्मरण का नाम स्मृति है। किसी भी वस्तु को यथार्थ जान लेने की शक्ति का नाम ज्ञान है। संशय, विपर्यय आदि वितर्क जाल का वाचक ऊहन है और उस से दूर होने का नाम अपोहन है। जो परमात्मा से ही होते है।

यहाँ हृदय शब्द से शारीरिक अगंरूप हृदय अभिप्रेत नहीं है। वह मन जो प्रेम, क्षमा, उदारता, करुणा जैसे सद्‌गुणों से सम्पन्न है, हृदय कहलाता है। दर्शनशास्त्र में हृदय का अर्थ शान्त, प्रसन्न, सजग और जागरूक मन है, जो सर्वोच्च आत्मतत्त्व का अनुभव करनें में सक्षम होता है। हृदय को परमात्मा का निवास स्थान कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि वह सर्वत्र विद्यमान है तथापि उस चैतन्य का आत्मरूप से साक्षात् अनुभव अपने हृदय में ही संभव है। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन होता है यह सर्वविदित तथ्य है कि जड़ वस्तुओं और मृत देह को किसी प्रकार का भी स्मरण, ज्ञान या विस्मरण नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनबुद्धि रूप सूक्ष्म शरीर में जब चैतन्य व्यक्त होता है, तभी वह ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है तथा वह चैतन्य समस्त वृत्तियों को प्रकाशित करता है।

यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानोंमें भगवान् विद्यमान हैं, तथापि हृदयमें वे विशेषरूप से विद्यमान हैं। हृदय शरीरका प्रधान अङ्ग है। सब प्रकारके भाव हृदयमें ही होते हैं। समस्त कर्मों में भाव ही प्रधान होता है। भाव की शुद्धिसे समस्त पदार्थ, क्रिया आदिकी शुद्धि हो जाती है। अतः महत्त्व भावका ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदिका नहीं।

इसलिये पापी–पुण्यात्मा, मूर्ख–पण्डित, निर्धन–धनवान्, रोगी–निरोगी, शुद्र–वैश्य–क्षत्रिय– ब्राह्मण आदि कोई भी स्त्रीपुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिमें क्यों न हो, भगवत्प्राप्ति का वह पूरा अधिकारी है। आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्ति की ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलता की है, जिस में भगवत्प्राप्ति के बिना रहा न जाय। हमारे पास महान ऋषि–मुनि समस्त जातियों, वर्णों, धर्मो, देश, काल से आये है। इसलिये कहा गया है जात न पूछो साधु की, पूछ लो ज्ञान।

हृदय में स्थित परमात्मा जीव के भूत, वर्तमान, भविष्य का ज्ञाता है, अर्जुन को उपदेश देते समय भगवान ने कहा कि इस से पूर्व भी तेरे–मेरे के जन्म हुए है किंतु तुम्हे याद नही, मुझे याद है। इसलिए वह हृदय में स्थित जीव को उस के कर्मो के अनुसार ज्ञान, स्मृति एवम विस्मृति प्रदान करता है और जीव उसी के अनुसार कर्म करता हुआ अपने फलों को भोगता है। जीव के समस्त कार्य जिसे वह भ्रमित हो समझता है कि वह कर रहा है, वह तो इस संसार मे नाटक का पात्र है और उसे निर्देशक की भांति हृदय में स्थित परमात्मा ही करवाता है। उस के समस्त विचार, आचार, कर्म, ज्ञान, स्मृति एवम विस्मृति सभी परमात्मा से प्राप्त है। उसे इस ज्ञान की आवश्यकता है और इस के लिये उसे अपने अहम, कामनाओं एवम आसक्ति का त्याग करना होगा। इसलिये परमात्मा ने समस्त वेदों से जानने वाला वेदान्त का कर्त्ता स्वयं को ही बताया है। वेदवित्त भी वही है जिस ने वेदों से मुझे जान कर ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। वेदांत का अर्थ समस्त ज्ञान का अंतिम केंद्र जिस को जानने से कुछ भी जानने को शेष न रहे, वह परमात्मा ही है।

अपने हृदय में स्थित परमात्मा को वो ही देख सकता है जिस का अन्तःकरण शुद्ध एवम निर्मल हो और जो अहम, कामना एवम आसक्ति से मुक्त हो।

गीता में वेदान्त शब्द का यह ज्ञान कैवल्य, मुंडक एवम श्वेताशवतर उपनिषद से आया है या यह भी कह सकते है कि यह श्लोक का आधार ये उपनिषद ही है।

परमात्मा के ब्रह्म स्वरूप के प्रकृति के बाद निरुक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम के लक्षण को आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.15।।

।। व्याख्या – रामसुख दास जी के द्वारा ।। विशेष 15.15 ।।

पीछेके श्लोकों में अपनी विभूतियों का वर्णन करने के बाद अब भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि मैं स्वयं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान हूँ। यद्यपि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानों में भगवान् विद्यमान हैं,

तथापि हृदय में वे विशेष रूप से विद्यमान हैं। हृदय शरीर का प्रधान अङ्ग है। सब प्रकार के भाव हृदय में ही होते हैं। समस्त कर्मों में भाव ही प्रधान होता है। भाव की शुद्धि से समस्त पदार्थ, क्रिया आदि की शुद्धि हो जाती है। अतः महत्त्व भाव का ही है, वस्तु, व्यक्ति, कर्म आदि का नहीं। वह भाव हृदय में होने से हृदय की बहुत महत्ता है। हृदय सत्त्वगुण का कार्य है, इसलिये भी भगवान् हृदय में विशेष रूप से रहते हैं।भगवान् कहते हैं कि मैं प्रत्येक मनुष्य के अत्यन्त नजदीक उस के हृदय में रहता हूँ अतः किसी भी साधक को (मेरे से दूरी अथवा वियोग का अनुभव करते हुए भी) मेरी प्राप्ति से निराश नहीं होना चाहिये। इसलिये पापी – पुण्यात्मा, मूर्ख – पण्डित, निर्धन– धनवान्, रोगी– निरोगी आदि कोई भी स्त्रीपुरुष किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदि में क्यों न हो, भगवत्प्राप्ति का वह पूरा अधिकारी है। आवश्यकता केवल भगवत्प्राप्ति की ऐसी तीव्र अभिलाषा, लगन, व्याकुलता की है, जिस में भगवत्प्राप्ति के बिना रहा न जाय।

परमात्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगह समानरूप से परिपूर्ण होने पर भी हृदय में प्राप्त होते हैं। जैसे गाय के सम्पूर्ण शरीर में दूध व्याप्त होने पर भी वह उसके स्तनों से ही प्राप्त होता है अथवा पृथ्वी में सर्वत्र जल रहने पर भी वह कुएँ आदि से ही प्राप्त होता है, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी, वैश्वानर आदि सब में व्याप्त होने पर भी परमात्मा हृदय में प्राप्त होते हैं।

परमात्मा प्राप्ति सम्बन्धी विशेष बात हृदय में निरन्तर स्थित रहने के कारण परमात्मा वास्तव में मनुष्य मात्र को प्राप्त हैं परन्तु जडता(संसार) से माने हुए सम्बन्ध के कारण जडता की तरफ ही दृष्टि रहने से नित्य प्राप्त परमात्मा अप्राप्त प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् उन की प्राप्ति का अनुभव नहीं हो रहा है। जडता से सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होते ही सर्वत्र विद्यमान (नित्यप्राप्त) परमात्मा तत्त्व स्वतः अनुभव में आ जाता है। परमात्मा प्राप्तिके लिये जो सत्कर्म, सत्चर्चा और सत्चिन्तन किया जाता है, उस में जडता (असत्) का आश्रय रहता ही है। कारण है कि जडता (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) का आश्रय लिये बिना इन का होना सम्भव ही नहीं है। वास्तव में इन की सार्थकता जडता से सम्बन्धविच्छेद कराने में ही है। जडता से,सम्बन्धविच्छेद तभी होगा, जब ये (सत्कर्म, सत्चर्चा और सत्चिन्तन) केवल संसार के हित के लिये ही किये जायँ, अपने लिये नहीं।

किसी विशेष साधन, गुण, योग्यता, लक्षण आदि के बदल में परमात्मा प्राप्ति होगी – यह बिलकुल गलत धारणा है। किसी मूल्य के बदले में जो वस्तु प्राप्त होती है, वह उस मूल्य से कम मूल्य की ही होती है – यह सिद्धान्त है। अतः यदि किसी विशेष साधन, योग्यता आदि के द्वारा ही परमात्मा प्राप्ति का होना माना जाय, तो परमात्मा उस साधन, योग्यता आदि से कम मूल्य के (कमजोर) ही सिद्ध होते हैं, जबकि परमात्मा किसी से कम मूल्य के नहीं हैं। इसलिये वे किसी साधन आदि से खरीदे नहीं जा सकते। इसके सिवाय अगर किसी मूल्य(साधन, योग्यता आदि) के बदले में परमात्मा की प्राप्ति मानी जाय, तो उन से हमें लाभ भी क्या होगा क्योंकि उनसे अधिक मूल्य की वस्तु (साधन आदि) तो हमारे पास पहले से है ही, जैसे सांसारिक पदार्थ कर्मों से मिलते हैं, ऐसे परमात्मा की प्राप्ति कर्मों से नहीं होती क्योंकि परमात्मा प्राप्ति किसी कर्म का फल नहीं है। प्रत्येक कर्म की उत्पत्ति अहंभाव से होती है और परमात्मा प्राप्ति अहंभाव के मिटनेपर होती है। कारण कि अहंभाव कृति (कर्म) है और परमात्मा कृतिरहित हैं। कृतिरहित तत्त्व को किसी कृति से कैसे प्राप्त किया जा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा

तत्त्व की प्राप्ति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड पदार्थों के द्वारा नहीं, प्रत्युत जडता के त्यागसे होती है। जब तक मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, देश, काल, वस्तु आदि का आश्रय है, तब तक एक परमात्मा का आश्रय नहीं हो सकता। मन, बुद्धि आदि के आश्रय से परमात्मा प्राप्ति होगी – यही साधक की मूल भूल है। अगर जडता का आश्रय और विश्वास छूट जाय तथा एकमात्र परमात्मा का ही आश्रय और विश्वास हो जाय, तो परमात्मा प्राप्ति में देरी नहीं लग सकती। किसी बात की भूली हुई जानकारी का (किसी कारणसे) पुनः प्राप्त होना,स्मृति कहलाती है। स्मृति और चिन्तन – दोनों में फरक है। नयी बात का चिन्तन और पुरानी बात की स्मृति होती है। अतः चिन्तन संसार का और स्मृति परमात्मा की होती है क्योंकि संसार पहले नहीं था और परमात्मा पहले (अनादिकाल) से हैं। स्मृति में जो शक्ति है, वह चिन्तन में नहीं है। स्मृति में कर्तापन का भाव कम रहता है, जबकि चिन्तन में कर्तापन का भाव अधिक रहता है। एक स्मृति की जाती है और एक स्मृति होती है। जो स्मृति की जाती है, वह बुद्धि में और जो होती है, वह स्वयं में होती है। होनेवाली स्मृति जडता से तत्काल सम्बन्ध विच्छेद करा देती है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि यह (होनेवाली) स्मृति मेरे से ही होती है।

परमात्मा का अंश होते हुए भी जीव भूल से परमात्मा से विमुख हो जाता है और अपना सम्बन्ध संसार से मानने लगता है। इस भूल का नाश होने पर मैं भगवान् का ही हूँ, संसार का नहीं ऐसा साक्षात् अनुभव हो जाना ही स्मृति है। स्मृति में कोई नया ज्ञान या अनुभव नहीं होता, प्रत्युत केवल विस्मृति (मोह) का नाश होता है। भगवान् से हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। इस वास्तविकता का प्रकट होना ही स्मृति का प्राप्त होना है। जीव में निष्कामभाव (कर्मयोग), स्वरूपबोध (ज्ञानयोग) और भगवत्प्रेम (भक्तियोग) – तीनों स्वतः विद्यमान हैं। जीव को (अनादिकाल से) इन की विस्मृति हो गयी है। एक बार इन की स्मृति हो जाने पर फिर विस्मृति नहीं होती। कारण कि यह स्मृति स्वयं में जाग्रत् होती है। बुद्धि में होनेवाली लौकिक स्मृति (बुद्धि के क्षीण होनेपर) नष्ट भी हो सकती है, पर स्वयं में होनेवाली स्मृति कभी नष्ट नहीं होती। किसी विषय की जानकारी को ज्ञान कहते हैं। लौकिक और पारमार्थिक जितना भी ज्ञान है, वह सब, ज्ञानस्वरूप परमात्मा का अभासमात्र है। अतः ज्ञान को भगवान् अपने से ही होनेवाला बताते हैं। वास्तवमें ज्ञान वही है, जो स्वयं से जाना जाय। अनन्त, पूर्ण और नित्य होनेके कारण इस ज्ञान में कोई सन्देह या भ्रम नहीं होता। यद्यपि इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान भी ज्ञान कहलाता है, तथापि सीमित, अलग (अपूर्ण) तथा परिवर्तनशील होने के कारण इस ज्ञान में सन्देह या भ्रम रहता है जैसे – नेत्रों से देखने पर सूर्य अत्यन्त बड़ा होते हुए भी (आकाशमें) छोटा सा दीखता है इत्यादि। बुद्धि से जिस बात को पहले ठीक समझते थे, बुद्धि के विकसित अथवा शुद्ध होने पर वही बात गलत दीखने लग जाती है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान करणसापेक्ष और अल्प होता है। अल्प ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसके विपरीत स्वयं का ज्ञान किसी करण(इन्द्रिय, बुद्धि आदि) की अपेक्षा नहीं रखता और वह सदा पूर्ण होता है। वास्तव में इन्द्रिय और बुद्धिजन्य ज्ञान भी स्वयं के ज्ञान से प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता पाते हैं। संशय, भ्रम, विपर्यय (विपरीत भाव), तर्कवितर्क आदि दोषों के दूर होने का नाम अपोहन है। भगवान् कहते हैं कि ये (संशय आदि) दोष भी मेरी कृपा से ही दूर होते हैं।

शास्त्रों की बातें सत्य हैं या असत्य भगवान् को किस ने देखा है संसार ही सत्य है इत्यादि संशय और भ्रम भगवान् की कृपा से ही मिटते हैं। सांसारिक पदार्थों में अपना हित दीखना, उनकी प्राप्ति में सुख दीखना, प्रतिक्षण नष्ट होने वाले संसार की सत्ता दीखना आदि विपरीत भाव भी भगवान् की कृपा से ही दूर होते हैं। गीतोपदेश के अन्त

में अर्जुन भी भगवान् की कृपा से ही अपने मोह का नाश, स्मृति की प्राप्ति और संशयका नाश होना स्वीकार करते हैं। यहाँ सर्वैः पद वेद एवं वेदानुकूल सम्पूर्ण शास्त्रों का वाचक है। सम्पूर्ण शास्त्रों का एकमात्र तात्पर्य परमात्मा का वास्तविक ज्ञान कराने अथवा उन की प्राप्ति कराने में ही है।यहाँ भगवान् यह बात स्पष्ट करते हैं कि वेदों का वास्तविक तात्पर्य मेरी प्राप्ति कराने में ही है, सांसारिक भोगों की प्राप्ति कराने में नहीं। श्रुतियों में सकामभाव का विशेष वर्णन आने का यह कारण भी है कि संसार में सकाम मनुष्यों की संख्या अधिक रहती है। इसलिये श्रुति (सब की माता होने से) उन का भी पालन करती है।

जाननेयोग्य एकमात्र परमात्मा ही हैं, जिन को जान लेने पर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। परमात्मा को जाने बिना संसार को कितना ही क्यों न जान लें, जानकारी कभी पूरी नहीं होती, सदा अधूरी ही रहती है । अर्जुन में भगवान् को जानने की विशेष जिज्ञासा थी। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों के द्वारा जानने योग्य मैं स्वयं तुम्हारे सामने बैठा हूँ।

भगवान् से ही वेद प्रकट हुए हैं। अतः वे ही वेदों के अन्तिम सिद्धान्त को ठीकठीक बताकर वेदों में प्रतीत होनेवाले विरोधों का अच्छी तरह समन्वय कर सकते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि (वेदोंका पूर्ण वास्तविक ज्ञाता होनेके कारण) मैं ही वेदों के यथार्थ तात्पर्य का निर्णय करनेवाला हूँ। वेदों के अर्थ, भाव आदि को भगवान् ही यथार्थरूप से जानते हैं। वेदों में कौनसी बात किस भाव या उद्देश्य से कही गयी है वेदों का यथार्थ तात्पर्य क्या है इत्यादि बातें भगवान् ही पूर्ण रूप से जानते हैं क्योंकि भगवान् से ही वेद प्रकट हुए हैं।

वेदों में भिन्नभिन्न विषय होनेके कारण अच्छेअच्छे विद्वान् भी एक निर्णय नहीं कर पाते। इसलिये वेदों के यथार्थ ज्ञाता भगवान् का आश्रय लेने से ही वे वेदोंका तत्त्व जान सकते हैं और श्रुति विप्रतिपत्ति से मुक्त हो सकते हैं।इस (पंद्रहवें) अध्याय के पहले श्लोक में भगवान् ने संसारवृक्ष को तत्त्व से जाननेवाले मनुष्य को वेदवित् कहा था। अब इस श्लोक में भगवान् स्वयं को वेदवित् कहते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि संसारके यथार्थ तत्त्व को जान लेनेवाला महापुरुष भगवान् से अभिन्न हो जाता है। संसार के यथार्थ तत्त्व को जानने का अभिप्राय है – संसार की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और परमात्मा की ही सत्ता है – इस प्रकार जानते हुए संसार से माने हुए सम्बन्ध को छोड़कर अपना सम्बन्ध भगवान् से जोड़ना, संसार का आश्रय छोड़कर भगवान् के आश्रित हो जाना।

भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के चार अध्यायों में भिन्नभिन्न रूपोंसे अपनी विभूतियों का वर्णन किया है – सातवें अध्याय में आठवें श्लोक से बारहवें श्लोक तक सृष्टि के प्रधान प्रधान पदार्थों में कारण रूप से सत्रह विभूतियोंका वर्णन कर के भगवान् ने अपनी सर्वव्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की है। नवें अध्याय में सोलहवें श्लोक से उन्नीसवें श्लोक तक क्रिया, भाव, पदार्थ आदिमें कार्य कारण रूप से सैंतीस विभूतियों का वर्णन कर के भगवान् ने अपने को सर्वव्यापक बताया है। दसवें अध्याय का तो नाम ही विभूतियोग है। इस अध्याय में चौथे और पाँचवें श्लोक में भगवान् ने प्राणियों के भावों के रूप में बीस विभूतियों का और छठे श्लोक में व्यक्तियों के रूप में पचीस विभूतियों का वर्णन किया है। फिर बीसवें श्लोक से उन्तालीसवें श्लोक तक भगवान् ने बयासी प्रधान विभूतियों का विशेषरूप से वर्णन किया है।

इस पन्द्रहवें अध्याय में बारहवें श्लोक से पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान् ने अपना प्रभाव बतलाने के लिये तेरह विभूतियों का वर्णन किया है ।

उपर्युक्त चारों अध्यायों में भिन्नभिन्न रूप में विभूतियों का वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि साधक को वासुदेवः सर्वम्, सब कुछ वासुदेव ही है इस तत्त्व का अनुभव हो जाय। इसीलिये अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय भगवान् ने अपनी सर्वव्यापकता को ही विशेष रूप से सिद्ध किया है जैसे मेरे से बढ़ कर इस जगत् का दूसरा कोई भी महान् कारण नहीं है।सत् और असत् – सब कुछ मैं ही हूँ। मैं ही सब की उत्पत्तिका कारण हूँ और मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है। चर और अचर कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मेरे से रहित हो अर्थात् चराचर सब प्राणी मेरे ही स्वरूप हैं।

इसी प्रकार इस पन्द्रहवें अध्याय में भी अपनी विभूतियों के वर्णन का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं –मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् हो रहे हैं। परमात्मा से अलग किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रकाश के अभाव(अन्धकार) में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती। आँखों से किसी वस्तु को देखने पर पहले प्रकाश दीखता है, उस के बाद वस्तु दीखती है अर्थात् हरेक वस्तु प्रकाश के अन्तर्गत ही दीखती है किन्तु हमारी दृष्टि प्रकाश पर न जाकर प्रकाशित होनेवाली वस्तु पर जाती है। इसी प्रकार यावन्मात्र वस्तु, क्रिया, भाव, आदि का ज्ञान एक विलक्षण और अलुप्त प्रकाश – ज्ञान के अन्तर्गत होता है, जो सब का प्रकाशक और आधार है। प्रत्येक वस्तु से पहले ज्ञान (स्वयंप्रकाश परमात्मतत्त्व) रहता है। अतः संसार में परमात्मा को व्याप्त कहने पर भी वस्तुतः संसार बाद में है और उस का अधिष्ठान परमात्मतत्त्व पहले है अर्थात् पहले परमात्मतत्त्व दीखता है, बाद में संसार। परन्तु संसार में राग होने के के कारण मनुष्य की दृष्टि उस के प्रकाशक (परमात्मतत्त्व) पर नहीं जाती।

परमात्मा की सत्ता के बिना संसार की कोई सत्ता नहीं है। परन्तु परमात्मा सत्ता की तरफ दृष्टि न रहने तथा सांसारिक प्राणी पदार्थों में राग या सुखासक्ति रहने के कारण उन प्राणी पदार्थों की पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता प्रतीत होने लगती है और परमात्मा की वास्तविक सत्ता (जो तत्त्व से है) नहीं दीखती। यदि संसार में राग या सुखासक्ति का सर्वथा अभाव हो जाय, तो तत्त्व से एक परमात्मा सत्ता ही दीखने या अनुभव में आने लगती है। अतः विभूतियों के वर्णनका तात्पर्य यही है कि किसी भी प्राणी पदार्थ की तरफ दृष्टि जानेपर साधक को एकमात्र भगवान् की स्मृति होनी चाहिये अर्थात् उसे प्रत्येक प्राणी पदार्थ में भगवान् को ही देखना चाहिये।

वर्तमान में समाज की दशा बड़ी विचित्र है। प्रायः सब लोगों के अन्तःकरण में रुपयों का बहुत ज्यादा महत्त्व हो गया है। रुपये खुद काम में नहीं आते, प्रत्युत उन से खरीदी गयी वस्तुएँ ही काम में आती हैं परन्तु लोगों ने रुपयों के उपयोग को खास महत्त्व न देकर उन की संख्या की वृद्धि को ही ज्यादा महत्त्व दे दिया इसलिये मनुष्य के पास जितने अधिक रुपये होते हैं, वह समाज में अपने को उतना ही अधिक बड़ा मान लेता है । इस प्रकार रुपयों को ही महत्त्व देनेवाला व्यक्ति परमात्मा के महत्त्व को समझ ही नहीं सकता। फिर परमात्मा प्राप्ति के बिना रहा

न जाय – ऐसी लगन उस मनुष्य के भीतर उत्पन्न हो ही कैसे सकती है जिस के भीतर यह बात बैठी हुई है कि रुपयों के बिना रहा ही नहीं जा सकता अथवा रुपयों के बिना काम ही नहीं चल सकता, उस की परमात्मा में एक निश्चयवाली बुद्धि हो ही नहीं सकती। वह यह बात समझ ही नहीं सकता कि रुपयों के बिना भी अच्छी तरह काम चल सकता है। जिस प्रकार व्यापारी को (एकमात्र धन प्राप्ति का उद्देश्य रहने पर) माल लेने, माल देने आदि व्यापारसम्बन्धी प्रत्येक क्रिया में धन ही दीखता है, इसी प्रकार परमात्मा तत्त्व के जिज्ञासु को (एकमात्र परमात्मा प्राप्ति का उद्देश्य रहने पर) प्रत्येक वस्तु, क्रिया आदि में तत्त्वरूप से परमात्मा ही दीखते हैं। उस को ऐसा अनुभव हो जाता है कि परमात्मा के सिवाय दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं, हो सकता ही नहीं।

अर्जुन ने चौदहवें अध्याय में गुणातीत होने का उपाय पूछा था। गुणों के सङ्ग से ही जीव संसार में फँसता है। अतः गुणों का सङ्ग मिटाने के लिये भगवान् ने यहाँ अपने प्रभाव का वर्णन किया है। छोटे प्रभाव को मिटाने के लिये बड़े प्रभाव की आवश्यकता होती है। अतः जब तक जीव पर गुणों(संसार) का प्रभाव है, तब तक भगवान् के प्रभाव को जानने की बड़ी आवश्यकता है। अपने प्रभाव का वर्णन करते हुए भगवान् ने (इस अध्याय के बारहवें से पंद्रहवें श्लोक तक) यह बताया कि मैं ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता हूँ मैं ही पृथ्वी में प्रवेश कर के सब प्राणियों को धारण करता हूँ मैं ही पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न कर के उस को पुष्ट करता हूँ जब मनुष्य उस अन्न को खाता है, तब मैं ही वैश्वानर रूप से उस अन्न को पचाता हूँ और मनुष्य में स्मृति, ज्ञान और अपोहन भी मैं ही करता हूँ। इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि आदि से अन्त तक, समष्टि से व्यष्टि तक की सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान् के अन्तर्गत, उन्हीं की शक्ति से हो रही हैं। मनुष्य अहंकार वश अपने को उन क्रियाओँ का कर्ता मान लेता है अर्थात् उन क्रियाओं को व्यक्तिगत मान लेता है और बँध जाता है।

।। रामसुखदास की व्याख्या ।। विशेष 15.15 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.16॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

"dvāv imau puruṣau loke

kṣaraś cākṣara eva ca

kṣaraḥ sarvāṇi bhūtāni

kūṭa-stho 'kṣara ucyate"

भावार्थ :

हे अर्जुन! संसार में दो प्रकार के ही जीव होते हैं एक नाशवान (क्षर) और दूसरे अविनाशी (अक्षर), इनमें समस्त जीवों के शरीर तो नाशवान होते हैं और समस्त जीवों की आत्मा को अविनाशी कहा जाता है। (१६)

Meaning:

There are two beings in this world, the perishable and the imperishable. All beings constitute the perishable, the Kootastha is called the imperishable.

Explanation:

Computer programmers love to create video games that can put the player in a gigantic virtual world where they can blow up aliens. What is interesting is that the same computer game can create a different world each time, with different kinds of aliens in different place. In other words, the infinitely complex virtual worlds created by the game can change, but the computer game program remains the same. Our visible universe is quite similar.

Shri Krishna begins to summarize the teaching of this chapter by asserting that everything in the world can be classified into two category. The first category comprises the visible world, the tangible world which comprises all living and inert beings. The second category comprises the invisible entity called Maaya. Maaya is like the computer game program that is invisible, yet has the power to create infinitely complex universes over and over again. The first category is termed kshara or perishable, because the universe has a beginning and end. The second category is termed akshara or imperishable, because it outlives the perishable.

So therefore, let's examine this teaching from two standpoints. From our standpoint, the standpoint of the "I" - the kshara, the perishable is our physical body. The akshara, the imperishable is the jeeva, as defined in the previous shlokas. From the standpoint of the world, the standpoint of the "that" - the kshara is the visible universe. The akshara refers to Maaya, the seed of infinite universes, present, past and future.

Let's now look at some of the terms used in the shloka. Koota means illusion, and therefore kootastha means that which can create several illusions. Another clarification is around the imperishability of Maaya. If Maaya is imperishable, how can we get out of it? The answer is that Maaya is imperishable till we realize our true nature and attain liberation. Each category is called a Purusha or a being because both of them are limitations or upaadhis of Ishvara, as we shall see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत श्लोक सांख्य योग के प्रकृति एवम पुरुष का वाचक है। इसलिये यहाँ क्षर शब्द का प्रयोग व्यक्त प्रकृति एवम अक्षर शब्द का प्रयोग अव्यक्त प्रकृति अर्थात बद्ध जीव से है। सभी जीव के स्थूल, सूक्ष्म एवम कारण तीन प्रकार के शरीर होते है। पंचभूतों से बना शरीर नाशवान है जिस में जन्म, वृद्धि, अस्तित्व, प्रजनन, क्षय एवम विनाश नाम से छह परिवर्तन होते है। क्योंकि जीव इस प्रकृति से बंधा है इसलिये उस मे यह परिवर्तन होते लगते है परंतु जो परब्रह का अंश है, अकर्ता एवम साक्षी है, उस मे कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये उसे अक्षर पुरुष कहा गया है। यह अक्षर पुरुष कर्म एवम कारण के सूक्ष्म शरीर से बंधा है। जीव कूटस्थ है अर्थात जिस में कोई परिवर्तन नहीं है किंतु जिस सूक्ष्म शरीर से यह बंधा है वो नाशवान ही है पर जब तक बंधन है, जीव को मुक्त नहीं करता और वह कर्म–कारण के सूक्ष्म शरीर से बंधे होने के कारण शरीर अर्थात क्षर का नाश होने के बाद भी मुक्त नही होता और पुनः जन्म लेता है।

अतः पंच भूतात्मक एवम पंच विषयात्मक जितना कुछ महत्तत्व से ले कर दृश्य जगत है, वह सब तो कार्य होने से और उत्पति नाश रूप होने से क्षर है। तथा कुटस्थ माया जो क्षर पुरुष का उत्पत्ति बीज है, क्षर पुरुष जिस का विकार है, समस्त जीवों के कामना और कर्म का आश्रय है, इसे अक्षर माना गया है। अक्षर को ब्रह्म या पुरुषोत्तम मानना गलत होगा, क्योंकि यहां यह अव्यक्त एवम सूक्ष्म प्रकृति का ही प्रतीक है। अक्षर स्वरूप में जीव महंत और अहंकार से प्रकृति से बंधा है, वह अपना स्वरूप भुला हुआ है। इस सूक्ष्म शरीर को व्यक्त शरीर कर्म हेतु मिलता है। यही अंधे और लंगड़े की जोड़ी है, अंधे अर्थात अज्ञानी जीव पर लंगड़ी अर्थात क्रियाशील प्रकृति सवार है। दोनो एक दूसरे के बिना कार्य नही कर सकते।

इस प्रकार सांख्य योग में दो पुरुष का वर्णन है जिस में एक क्षर पुरुष है एवम दूसरा अक्षर पुरुष है जो अक्षर पुरुष है जो क्षर पुरुष जिस का विकार है और सम्पूर्ण जीवो की कामना व कर्म संस्कारो का जो आश्रय है। जब तक इस अक्षर पुरुष का कर्म–कारण से बंधन रहता है उसे अज्ञान काल कहते है, इसलिये इस अज्ञान काल मे अक्षर पुरुष का प्रलय होने पर भी नाश नही होता और यह बार बार जन्म लेता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि भौतिक जगत में जीव च्युक्त अर्थात क्षर प्राणी है और आध्यात्मिक जगत में यह जीव परमात्मा का अंश होने से अच्युक्त अर्थात अक्षर प्राणी है।

क्षर और अक्षर – इन दोनों उपाधियों से अलग बतलाकर, उसी उपाधि रहित शुद्ध परमात्मा के स्वरूप का निश्चय करने की इच्छा से, यह श्लोक कहा गया है। उन में पहले के और आगे आने वाले सभी अध्यायों के समस्त अभिप्राय को तीन भेदों में विभक्त कर के कहते हैं, समुदाय रूप से पृथक् किये हुए ये दो भाव, संसार में पुरुष नाम से कहे जाते हैं। इन में से एक समुदाय क्षीण होनेवाला नाशवान् क्षर पुरुष है और दूसरा उस से विपरीत अक्षर पुरुष है, जो कि भगवान् की मायाशक्ति है, क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है तथा अनेक संसारी जीवों की कामना और कर्म आदि के संस्कारों का आश्रय है, वह अक्षर पुरुष कहलाता है।

सांख्य योग प्रकृति एवम पुरुष दो ही मानता है, इसलिये जीव की संख्या अनन्त हो जाती है। गीता में इन दो पुरुष के अतिरिक्त अन्य पुरुष परमात्मा कहा गया है जो इन दोनों की उत्पत्ति का कारक भी है। सांख्य में अव्यक्त प्रकृति और कैवल्य की अवस्था अक्षर पुरुष की है। वेदांत के अक्षर ब्रह्म और जीव के अक्षर होने को हम एक नही मान सकते, क्योंकि अक्षर जीव प्रकृति से जुड़ा हुआ है, इसे ही जीव का अज्ञान भी कहते है।

जीवात्मा चाहे जितने शरीर धारण करे, चाहे जितने लोकों में जाय, उस में कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता वह सदा ज्यों का त्यों रहता है। इसीलिये यहाँ उसको कूटस्थ कहा गया है। गीता में परमात्मा और जीवात्मा दोनों के स्वरूप का वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। जैसे परमात्मा को कूटस्थ तथा अक्षर कहा गया है, ऐसे ही यहाँ जीवात्मा को भी कूटस्थ और अक्षर कहा गया है। जीवात्मा और परमात्मा, दोनों में ही परस्पर तात्त्विक एवं स्वरूप गत एकता है। स्वरूप से जीवात्मा सदा सर्वदा निर्विकार ही है परन्तु भूल से प्रकृति और उस के कार्य शरीरादि से अपनी एकता मान लेने के कारण उस की जीव संज्ञा हो जाती है, नहीं तो (अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार) वह साक्षात् परमात्मतत्त्व ही है।

क्षर और अक्षर जीव के वर्णन से यह ही सिद्ध होता है कि जिस शरीर से जीव का मोह या आत्मीयता होती है, उस का अस्तित्व तभी तक है, जब तक जीवात्मा शरीर में विद्यमान है, जीव के शरीर छोड़ते ही, प्राण वायु भी शरीर को छोड़ देती है और क्षर शरीर भी सड़ने लगता है, जब की अक्षर जीव सूक्ष्म शरीर से बद्ध होने से अगले जन्म को प्राप्त होता है। मुक्त अवस्था क्षर सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त होने से प्राप्त होती है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.16।।

बाहर

बेहद कोलाहल ।

रे मन

तनिक भीतर चल ।।

गलाकाट

प्रतिस्पर्धाओं में .

स्वर्णिम मृग की

वैदेही कामनाओं में .

बदल

आबोहवा बदल ।

रे मन

तनिक भीतर चल ।।

पल पल रंग बदलते

चेहरे में .

मूल्य दफन

कहीं गहरे में .

निकल

कहीं ओर निकल ।

रे मन

तनिक भीतर चल ।।

जर्जर होते

स्नेहिल धागों में .

मुरझाए मौसम में

खण्डित होते विश्वासों में

टहल

कहीं ओर टहल ।

रे मन

तनिक भीतर चल ।।

घर घर

जलती होली में .

खुशियों से

आँख मिचौली में .

सँभल

शीघ्र सँभल ।

रे मन

तनिक भीतर चल ।।

भीतर तू और

तेरा सांई केवल .

ना कोई परदा

ना कोई छल .

पहल

कर पहल ।

रे मन

तनिक भीतर चल .....

बाहर

बेहद कोलाहल.....

नरेंद्र राजावत

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.17॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

"uttamaḥ puruṣas tv anyaḥ

paramātmety udāhṛtaḥ

yo loka-trayam āviśya

bibharty avyaya īśvaraḥ"

भावार्थ :

परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है, वह अविनाशी भगवान तीनों लोकों में प्रवेश करके सभी प्राणीयों का भरण–पोषण करता है। (१७)

Meaning:

But distinct is that foremost person, spoken of as the supreme self, the imperishable lord, who enters and sustains the three worlds.

Explanation:

As we saw earlier, a single video game program can create an infinite variety of complex worlds in the computer. Let us now pose the question - what is the core, what is the essence of these complex worlds? What is the purest state of these worlds? We need to peel the layers of an onion, as it were. The worlds are not real, they are created by a computer program. A computer program is not real, it is a series of instructions in a computer's memory. The instructions are not real, they are modifications of electricity. Ultimately, it is electricity that is creating and sustaining all of the worlds we see in a computer game.

Now, what if we pose the question - what is at the core of this world? If we get rid of all the limitations, what the purest state of this world? What is the purest state of our existence? The visible world is not real, because it is created by a play of the gunaas of Prakriti, and is perishable. Prakriti or Maaya is not real, though it is relatively imperishable, because it can be destroyed upon removal of our ignorance. What remains, is the eternal essence on which Maaya projects all its limitations or upaadhis.

Similarly, if we mentally remove our upaadhis or limitations, it will go something like this. Our body is a play of the gunaas, it is not real. Beyond the body are the senses and the mind, and they are comprised of gunaas and therefore not real. Beyond the senses and mind lies the eternal essence, untainted by Prakriti, which is the purest form of our "I". In other words, when we remove all of our upaadhis or limitations, we come to the same eternal essence that is reached when we remove the upaadhis of the visible world.

We had seen the identity of our "I" with the eternal essence, of aatman with brahman, in the thirteenth chapter as well. That very same eternal essence, the purest brahman or shuddha brahman is referred to as the imperishable lord in this shloka by Shri Krishna. The three worlds here refer to either heaven, earth and hell, or even our waking, dreaming and sleeping states. The eternal essence enters and sustains all of them, but it is not some remote entity. It is the supreme self, the "I" residing within everyone.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में दो पुरुषों का वर्णन किया गया है जिसे हम के क्षर अर्थात प्रकृति एवम अक्षर अर्थात जीव के नाम से जाना है। यह जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी कर्म–कारण के साथ बद्ध है।

अतः परमात्मा कहते है, इन दोनों पुरुषों से उत्तम पुरुष है जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान, पराम दयालु, सर्वगुण सम्पन्न पुरुषोत्तम है। सांख्य योग प्रकृति एवम जीव तक सीमित है अतः वेदान्त योग में इस दोनों एवम असंख्य जीवो को एक ही परमात्मा का स्वरूप बताया जिसे पुरुषोत्तम कहा गया है। प्रकृति एवम जीव इस का ही अंश है किंतु यह स्वयं में अविभक्त, सर्वाधार एवम सर्वव्यापी है। यही जगत में पुरुष रूप में प्रविष्ट हो कर क्षर एवम अक्षर दोनों तत्वों को धारण करता है एवम उस का पालन करता है। यह श्लोक कठोउपनिषद एवम श्वेताशवतर उपनिषद से प्रेरित है जिस में परमात्मा को असंख्य जीवो जो बद्ध एवम मुक्त है, उन का नियंता एक ही परमात्मा है।

वह ईश्वर अविद्या जनित शरीरादि आत्माओं की अपेक्षा पर है और सब प्राणियों का आत्मा यानी अन्तरात्मा है इस कारण वैदान्त वाक्यों में वह परमात्मा नाम से कहा गया है। उसी का विशेषरूप से निरूपण करते हैं, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग, इन तीनों लोकों को, अपने चैतन्य बल की शक्ति से उन में प्रविष्ट हो कर, केवल स्वरूप सत्ता मात्र से उन को धारण करता है और जो अविनाशी ईश्वर है अर्थात् जिस का कभी नाश न हो, ऐसा नारायण नामक सर्वज्ञ और सबका शासन करनेवाला है।

परमात्मा का अंश होते हुए भी जीवात्मा की दृष्टि या खिंचाव नाशवान् क्षर की ओर हो रहा है। इसीलिये यहाँ भगवान् को उस से विलक्षण बताया गया है। उस उत्तम पुरुष को ही परमात्मा नाम से कहा जाता है। परमात्मा

शब्द निर्गुण का वाचक माना जाता है, जिस का अर्थ है, परम (श्रेष्ठ) आत्मा अथवा सम्पूर्ण जीवों की आत्मा। इस श्लोक में परमात्मा और ईश्वर दोनों शब्द आये हैं, जिस का तात्पर्य है कि निर्गुण और सगुण सब एक पुरुषोत्तम ही है। वह उत्तम पुरुष (परमात्मा) तीनों लोकों में अर्थात् सर्वत्र समानरूप से नित्य व्याप्त है।

परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंका भरणपोषण करते हैं, पर जीवात्मा संसार से अपना सम्बन्ध मान लेने के कारण भूल से सांसारिक व्यक्तियों आदि को अपना मान कर उन के भरणपोषणादि का भार अपने ऊपर ले लेता है। पालनपोषण करने में भगवान् किसी के साथ कोई पक्षपात (विषमता) नहीं करते। वे भक्त– अभक्त, पापी – पुण्यात्मा, आस्तिक – नास्तिक आदि सभी का समान रूप से पालनपोषण करते हैं। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि भगवान् द्वारा रचित सृष्टि में सूर्य सब को समानरूप से प्रकाश देता है, पृथ्वी सब को समान रूप से धारण करती है, वैश्वानरअग्नि सब के अन्न को समान रूप से पचाती है, वायु सब को (श्वास लेनेके लिये) समानरूप से प्राप्त होती है, अन्न जल सब को समान रूप से तृप्त करते हैं, इत्यादि।

क्षर एवम अक्षर के अतिरिक्त एक पुरुष उत्तम कहा गया है। संत ज्ञानेश्वर जी कहते है कि सुषुप्ती और स्वप्न के अतिरिक्त जागृत तीसरी अवस्था है। यह अवस्था ज्ञान की अवस्था है। जहां सोऽहम अर्थात जीव यह जान लेता है कि वह परमात्मा का अंश है। इन तीनों अवस्था से पार जहां सोऽहम भी नही है, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्व शक्तिमान, परमदयालु, सर्वगुणसंपन्न उत्तम पुरुष की अवस्था है जिसे पुरुषोत्तम भी कहा गया है।

इस अध्याय के अंतिम श्लोकों में हम आगे परमात्मा द्वारा अपने को पुरुषोत्तम को बतलाते हुए क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.17।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.18॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

"yasmāt kṣaram atīto 'ham

akṣarād api cottamaḥ

ato 'smi loke vede ca

prathitaḥ puruṣottamaḥ"

भावार्थ :

क्योंकि मैं ही क्षर और अक्षर दोनों से परे स्थित सर्वोत्तम हूँ, इसलिये इसलिए संसार में तथा वेदों में पुरुषोत्तम रूप में विख्यात हूँ। (१८)

Meaning:

For, I transcend the perishable and also am superior to the imperishable. Therefore, in the world and in the Vedas, I am well known as the foremost person.

Explanation:

Now, Shri Krishna reveals his true identity as Purushottama, the uttama Purusha, the foremost person, which is a poetic means of referring to the eternal essence, the pure brahman without any limitations. The root of the sanskrit word "uttama" is "ut" or high. This means that there is nothing higher than Purushottama. The imperishable, also known as Prakriti or Maaya, could be considered superior to the perishable world, because Prakriti is the cause and the world is its effect. Any cause is superior than its effect, just like the parents are superior to their children. Since Prakriti exists only as an adhyaasa, a projection on Purushottama, he is greater than anything else.

Let us also look at the significance of Purushottama by going deeper into what is meant by cause and effect. According to Vedanta, there are two types of causes. The material cause is the substance which makes the effect. A clay pot is made of clay, so its material cause, its upaadaana kaarana, is clay. But the pot did not make itself. There was an intelligence in the form of a potter that created the clay pot. This is the second type of cause is the nimitta kaarana, known as the intelligent or efficient cause.

Some schools of thought assert that the Purushottama is only the intelligent cause and not the material cause. He is like the potter who is distinct and separate than his creation. But in the Advaita school, the Purushottama is not only considered the intelligence behind creation, he is also the raw material behind the creation. The Mundaka Upanishad compares Purushottama to the spider who weaves the web from within himself, and eventually, pulls back the web into himself.

We should again not forget that this uttama Purusha, this foremost person, is nothing but our own self, our "I". In fact, uttama Purusha in Sanskrit grammatically means the first person, the "I". He is beyond the perishable tree of samsaara, and also beyond the seed of this tree in the form of Prakriti. What is the result of knowing this uttama Purusha? We will see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस अध्याय का प्रारंभ अश्वत्थ वृक्ष से हुआ जिसे हम ने मृत्यु लोक से ब्रह्म लोक तक परब्रह के संकल्प के रूप में पढ़ा। इस मे क्षर पुरुष एवम अक्षर पुरुष के बारे में परमात्मा ने बताया। क्षर पुरुष प्रतीकात्मक शब्द है, प्रकृति के लिये जो यह नाशवान सृष्टि का मूल है। प्रकृति नित्य नही है किंतु निरंतर बदलने के बावजूद भी स्थिर दिखती है, यही माया है। दूसरा पुरुष नित्य, साक्षी एवम परब्रह का अंश होते हुए भी प्रकृति के साथ बद्ध है।

यह द्वितीय पुरुष ही हम है, हम प्रकृति से साथ अपने बन्धन को जन्म जन्मांतर तक स्वीकार करते है, अज्ञान में रहते है, और जन्म मरण के दुखों को भोगते है। हमारी पूजा, ध्यान, आराधना, योग एवम कर्म इसी सांसारिक वृक्ष के सुख भोग के लिये है, इसलिये ब्रह्मलोक से मृत्यु लोक के मध्य चक्कर लगाते रहते है। यह सांसारिक अश्वत्थव वृक्ष का न आदि है, न अंत है और न ही मध्य। इसलिये राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवम पारिवारिक समस्त गतिविधियां इस द्वितीय पुरुष की सांसारिक वृक्ष की होती है।

परमात्मा ने इस से अतिरिक्त तृतीय उत्तम पुरुष का वर्णन किया जो इस सांसारिक वृक्ष का पालन करता है, द्वितीय पुरुष जीव जिस का अंश है। सांसारिक वृक्ष का प्रकाश, अग्नि, तेज एवम पोषण जिस के आश्रय होता है वह स्वयं में निर्विकार, सर्वज्ञ, नियामक, उपास्य देव एवम सर्वशक्ति मान है।

वेदांत में व्यक्त सृष्टि या क्षर सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति या अक्षर प्रकृति के परे का अक्षर ब्रह्म को परमात्मा कहा गया है। इसलिए क्षर – अक्षर विचार और क्षेत्र – क्षेत्रज्ञ के विचार के पिंड या ब्रह्मांड में एक ही पुरुषोत्तम है। इसी अधिभूत, अधियज्ञ, प्रभुति का या अश्वस्थ वृक्ष का सारभूत तत्व यही पुरुषोत्तम है।

मैं क्षर रूप दृश्य एवम विकृति रूप जगत से अतीत हूं, अर्थात विनाश रूप जगत की उत्पति, स्थिति व प्रलय मेरे आश्रय होते हुए भी मैं ज्यों का त्यों निर्विकार रूप से स्थित रहता हूं। मैं अक्षर माया से भी उत्कृष्ट हूं, क्योंकि अपना नाच नाचने वाली यह माया भी ज्ञान के उदय होने से त्रिकालभाव में समा जाती है।

यही उत्तम पुरुष पुरुषोत्तम है जिस जीव निःसंग हो कर, निष्काम भाव से कर्म करता हुआ ज्ञान से प्राप्त कर सकता है। भगवान श्री कृष्ण यहां घोषणा करते हुए अर्जुन से कहते है जिस पुरुषोत्तम पुरुष का वर्णन तुम ने

सुना, वह कोई ओर नही, वह स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही है। भगवान श्री कृष्ण से आश्रय सगुण कृष्ण अवतार से न हो कर उस परमब्रह्म तत्व से है, जो नित्य, निर्विकार, सब का पालन करने वाला, अकर्ता और पूरी सृष्टि का बीज स्वरूप, निर्गुण परमात्मा है, इसलिए भगवान कहते है, वह परमात्मा सगुण स्वरूप में मैं ही हूं क्योंकि मैं उस परम तत्व का ज्ञाता हुॅं।

उपर्युक्त ईश्वर का पुरुषोत्तम् यह नाम प्रसिद्ध है, उस का यह नाम किस कारण से हुआ इस की हेतु सहित उत्पति बतलाकर, नाम की सार्थकता दिखलाते हुए भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं कि मैं निरतिशय ईश्वर हूँ, क्योंकि मैं क्षरभाव से अतीत हूँ अर्थात् अश्वत्थ नामक मायामय संसारवृक्ष का अतिक्रमण किये हुए हूँ और संसार वृक्ष के बीजस्वरूप अक्षर से (मूल प्रकृतिसे) भी उत्तम अतिशय उत्कृष्ट अथवा अतिशय उच्च हूँ। इसीलिये अर्थात् क्षर और अक्षर से उत्तम होने के कारण, लोक और वेद में, मैं पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ। भक्तजन मुझे इसी प्रकार जानते हैं और कविजन भी काव्यादि में इसी नामका प्रयोग करते हैं अर्थात् पुरुषोत्तम् इसी नाम से ही मेरा वर्णन करते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 15.18।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.19॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

"yo mām evam asammūḍho

jānāti puruṣottamam

sa sarva-vid bhajati māṁ

sarva-bhāvena bhārata"

भावार्थ :

हे भरतवंशी अर्जुन! जो मनुष्य इस प्रकार मुझको संशय-रहित होकर भगवान रूप से जानता है, वह मनुष्य मुझे ही सब कुछ जानकर सभी प्रकार से मेरी ही भक्ति करता है। (१९)

Meaning:

One who knows me in this manner, without delusion, knows me as the foremost person, he, knowing all, worships me from all viewpoints, O Bhaarata.

Explanation:

It is said that once a travelling circus came to a village with a most unique attraction known as the tent of mirrors. Anyone who entered it would see a whole army of their own selves due to the mirrors reflecting back and forth indefinitely. A dog entered this tent, saw an infinite number of dogs that looked like him, was afraid and started barking in fear. A passerby went in to see what was going on. Now when he saw himself in those infinite reflections, he thought to himself - I see myself everywhere, how nice this is!

Shri Krishna says that when we see our "I" as no different from anyone or anything else, when we do not pay attention to the name and form but to the self or aatmaa that is the basis of all name and form, that is the correct way of knowing Purushottama, the foremost person. Any other way of conceptualizing Purushottama or the eternal essence will involve some degree of delusion, some trace of name and form involvement. Worship of Ishvara as a deity with name and form is an essential step in the direction of realizing the Purushottama who is beyond all name and form.

When one reaches this conclusion of one's spiritual journey, there is nothing else left to be known in this world. Such a person becomes sarvavit, all knowing. He will develop sarvaatma bhaava, he will see himself in everything and everyone. So then, no matter the viewpoint, whatever angle, whatever pursuit he will undertake after this knowledge, it will be in worship of this Purushottama. This is the grand message of the Bhagavad Gita.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पँचदशोऽध्याय का उपसंहार करते हुए यह अंतिम श्लोक के पूर्व का श्लोक है। सातवे अध्याय में ज्ञान–विज्ञान योग के निरूपण करते हुए प्रारम्भ किया गया था उसी का उपसंहार क्षर–अक्षर ज्ञान को पुरुषोत्तम योग से पूर्ण किया गया। निष्काम कर्म करते रहने से आचरण द्वारा परमेश्वर का ज्ञान होता है एवम उसी से मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। मोक्ष भक्ति से भी प्राप्त होता है किंतु गीता ज्ञान–विज्ञान का इतना विस्तृत विवरण भक्ति के लिये

नही, वर्णन संसार मे निष्काम कर्मयोग के लिये करती है जिस से इस अश्वत्थव वृक्ष अर्थात संसार वृक्ष में सत्वगुणी –फिर निःसंग हो कर परब्रह को प्राप्त हो।

जो कोई अज्ञान से रहित हुआ पुरुष, उपर्युक्त विशेषणों से युक्त मुझ पुरुषोत्तम ईश्वर को, निःसंग प्रकार से यह जानता है कि यह (पुरुषोत्तम) मैं हूँ, वह सर्वज्ञ है वह सर्वात्मभाव से सबको जानता है, अतः सर्वज्ञ है और हे भारत (वह) सब भूतों में स्थित मुझ परमात्मा को ही सर्वभाव से सब का आत्मा समझकर भजता है।

ज्ञानेश्वर जी कहते है कि अपने आप को सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयं सिद्ध सच्चिदानंद समझता है, जो स्वयं को मुझ से अलग नहीं मानता तथा जो मेरे आत्मस्वरुप को अच्छी तरह पहचानता है, उसी के बारे में यह समझना चाहिए कि उस ने सब कुछ जान लिया है। गगन के आलिंगन के लिए गगन ही उपयुक्त है और अमृत में अमृत मिलने से एक रस होता है। अतः उस के विषय में यह कहना भी यथेष्ट नही है, क्योंकि शब्दो का विषय होनेवाला जो द्वैत भाव है, वह भी उस में अवशिष्ट ही नहीं रह पाता।

यह भी अनुभव में आया है कि भक्ति भाव की पराकाष्ठा में कुछ अज्ञानी अपने को परमात्मा भी घोषित कर देते है किंतु द्वैत भाव और प्रकृति से सम्बन्ध रहने से यह भी अज्ञान की पराकाष्ठा ही सिद्ध होती है।

जिस पुरुष ने अपने शरीर, मन और बुद्धि तथा उन के द्वारा अनुभव किये जाने वाले विषयों, भावनाओं एवं विचारों के साथ मिथ्या तादात्म्य को सर्वथा त्याग दिया है एवम जो संशय, मोह एवम विपर्यय से मुक्त हो वही असंमूढ अर्थात् संमोहरहित पुरुष है। इस प्रकार मुझे जानता है यहाँ जानने का अर्थ बौद्धिक स्तर का ज्ञान नहीं वरन् आत्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव है। स्वयं को परमात्मस्वरूप से जानना ही वास्तविक बोध है। क्योंकि अहम ब्रह्मास्मि कहने वाला ही, अनात्मा के तादात्म्य को त्याग कर, जिसने मुझ परमात्मा के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया है, वही सर्वविद है। जो मुझे पूर्ण हृदय से भजता है। प्रिय से तादात्म्य ही सर्वत्र प्रेम का मापदण्ड माना जाता है। अधिक प्रेम होने पर अधिक तादात्म्य होता है। इसलिये, अंकगणित की दृष्टि से भी पूर्ण तादात्म्य का अर्थ होगा पूर्ण प्रेम अर्थात् पराभक्ति।यह पुरुषोत्तम ही चैतन्य स्वरूप से तीनों काल में समस्त घटनाओं एवं प्राणियों की अन्तर्वृत्तियों को प्रकाशित करता है। इसलिये वह सर्वज्ञ कहलाता है। जो भक्त इस पुरुषोत्तम के साथ पूर्ण तादात्म्य कर लेता है, वह भी सर्ववित् कहलाता है। इस अध्याय की विषय वस्तु भगवत्तत्त्वज्ञान है।

गीता में पुरुषोत्तम ज्ञान श्रद्धा, भक्ति, स्मरण, समपर्ण, ज्ञान, ध्यान एवम निष्काम हो कर कर्म करना है। जहाँ अहम, कामना, आसक्ति एवं भोक्तत्व भाव न हो। यह कर्म कांड पर विश्वास नही करती। एक सुदृढ सम्पूर्ण समर्पित व्यक्तिव ही इस का आधार है। एक बंदर की भांति मटके में मुट्ठी भर चने हाथ मे ले कर यदि हाथ बाहर न निकले तो दोष मटके या चने का नही है, दोष उस लालसा का है जिसे हम सही समझ कर पकड़े हुए है और वास्तव में सही नही है। संसार मे जीवन के हमारे तर्क का यही आधार भी है किंतु ज्ञान निरूपण जीवन की हम कल्पना एक सन्यासी, योगी या बाबा जी जैसी करते है तो यही हाल होता है। ज्ञान रूपेण व्यक्तित्व की छवि रामकृष्ण परमहंस, शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर, विवेकानंद, दयानंद, बाल गंगाधर तिलक, चाणक्य, चंद्रगुप्त, बुद्ध,

महावीर, नानक, तुलसीदास, सूरदास, शिवाजी, महाराणा प्रताप, लाल बहादुर शास्त्री, भगत सिंह, सरदार पटेल, dr अब्दुलकलाम, होमी जहांगीर भामा आदि आदि अनगिनत महान आत्माओं से करते है तो हमे अपने तर्को से निरुत्तर ही होना पड़ता है। परमात्मा को साक्षात जानने वाले यह लोग ही कर्मयोगी, अवतरित आत्माएं जीव थी वो बार बार नही आती।

जब मैं था तब हरि नहीं ,अब हरि हैं मैं नांहि। सब अँधियारा मिटी गया , जब दीपक देख्या माँहि।। कबीर जी के इस दोहे और आदिगुरु शंकराचार्य जी के विवेक चूड़ामणि से कुछ सुक्त से हम इसे अधिक स्पष्ट समझ पाएंगे।

जिसे देह, इन्द्रियों आदि में मैं–मेरापन का भाव तथा अन्य वस्तुओं में इदम् (यह) भाव कभी भी नहीं होता , वह पुरुष जीवनमुक्त माना जाता है ।।

जो अपनी प्रज्ञाके द्वारा अपनी अन्तरात्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और सृष्टिके बीच-- कभी भी कोई भेद नहीं रखता, वह पुरुष जीवनमुक्त माना जाता है ।।

जिस व्यक्ति को ब्रह्मतत्त्व को जान लेनेपर पहले–अज्ञानकाल के समान संसारके विषयों में आसक्ति नहीं रहती; पर यदि संसार में ऐसी प्रवृत्ति देखने में आती है, तो फिर मानना चाहिए कि उसे ब्रह्मभाव का बोध नहीं हुआ है, वह तो अभी बहिर्मुखी है ।।

जग जानेपर जैसे स्वप्नावस्था में किए हुए सारे भले–बुरे कर्म लुप्त हो जाते हैं, वैसे ही ' अहं ब्रह्मास्मि ' (मैं ब्रह्म हूँ) का ज्ञान होने पर अनन्त कल्पों के संचित हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।।

ब्रह्म सत्, चित्, घनानन्दस्वरूप, नित्य, अक्रिय और एक अद्वितीय है, इसमें नानात्व का लेशमात्र भी नहीं है ।।

ब्रह्म सबका अन्तर्यामी, एकरस (घनीभूत), परिपूर्ण, अनन्त , सर्वव्यापी , एक और अद्वैत है, इसमें नानात्व का लेशमात्र भी नहीं है ।।

ब्रह्म सबका स्वरूप होने के कारण न त्याज्य है, न ग्राह्य है, न किसी में स्थित होने योग्य है; यह एक और अद्वैत है; इसमें नानात्व का लेशमात्र भी नहीं है ।।

ब्रह्म निर्गुण, निरवयव, सूक्ष्म, निर्विकल्प , निरंजन, एक और अद्वैत है। इसमें नानात्व का लेश तक नहीं है ।।

परमात्मा ने अपने पुरुषोत्तमत्व को सिद्ध किया। ऐसा वर्णन करने का तात्पर्य और प्रयोजन क्या है, इस को हम आगे के श्लोक में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.19।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 15.20॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

"iti guhyatamaṁ śāstram

idam uktaṁ mayānagha

etad buddhvā buddhimān syāt

kṛta-kṛtyaś ca bhārata"

भावार्थ :

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह शास्त्रों का अति गोपनीय रहस्य मेरे द्वारा कहा गया है, हे भरतवंशी जो मनुष्य इस परम-ज्ञान को इसी प्रकार से समझता है वह बुद्धिमान हो जाता है और उसके सभी प्रयत्न पूर्ण हो जाते हैं। (२०)

Meaning:

Thus, this foremost secret has been taught to you by me, O sinless one. Having known this, one becomes wise and accomplishes all his duties, O Bhaarata.

Explanation:

When you ask the question - can you stop working right now and retire, you get a couple of answers. Some people say that they have still so many desires, so many plans to fulfill, that's why they cannot retire. Other people say that they still have so much to learn from the world, so much knowledge to acquire. Shri Krishna concludes this chapter by asserting that one who has truly understood the teaching of this chapter has accomplished whatever anyone can accomplish in this world, plus he has also known whatever can be known in this world.

Why does he say that whatever has to be known has been covered in this chapter? The highest knowledge to be known in this world is the understanding of three topics. What is the nature of the individual soul (who am I), what is this world and where did it come from, and what is beyond this world (is there a God). Any text that conclusively answers these three questions is termed a shaastra, a science. The fifteenth chapter of the Gita does so, and hence it is worthy of being termed a shaastra.

The method used to reveal Purushottama, the pure eternal essence, is to gradually move from the tangible to the intangible, from the visible to the subtle, from the visible universe to the invisible Prakriti to Purushottama who is beyond both. This method is known as Arundhati nyaaya, the technique of revealing the location of the star known as Arundhati. Here the teacher first points to a tree, then to one of its branches, then to one of its leaves, and then to the star that is right next to the tree. Without doing this step by step revelation, it would not have been possible to reveal the position of the star.

So then, the teaching of this chapter is called the foremost secret. It is secret because such knowledge is not accessible to any of these sense organs. It has to be revealed through a teacher who has had direct experience of the eternal essence. Furthermore, it has to be taught to a student who is straightforward and without sin like Arjuna. Shri Shankaraachaarya goes so far as to say that this chapter summarizes the teachings of all of the Vedic scriptures.

।। हिंदी समीक्षा।।

पंद्रहवे अध्याय का अंतिम श्लोक एवम अत्यंत महत्वपूर्ण भी। इस अध्याय में परब्रह के गुण, प्रभाव, तत्व एवम रहस्य की बात प्रधानता पूर्वक कही गयी है। जिस को कभी भी अपात्र के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहिये। अपात्र के सामने ज्ञान को प्रकट करना, उस ज्ञान की अवेहलना करने के समान है क्योंकि जिस में विवेक नही वह अक्सर विषय को निर्रथक बहस का विषय बना कर उस विषय की महत्ता नष्ट के देते है। इस को प्रकट करते हुए, परमात्मा अर्जुन को अनघ कहते है, अर्थात जिस का अन्तःकरण शुद्ध एवम निर्मल है एवम जो निष्पाप है, एवम जो इस ज्ञान को सुनने एवम धारण करने के लिये पात्र है।

इस ज्ञान को गुह्य या रहस्य इस दृष्टि से नहीं कहा गया है कि इस का उपदेश किसी को नहीं देना चाहिये अभिप्राय यह है कि परमात्मा इन्द्रिय अगोचर होने के कारण कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा उसे अपनी बुद्धि से नहीं जान सकता है। अत वह उसके लिये रहस्य ही बना रहेगा। केवल एक शास्त्रज्ञ और आत्मानुभवी आचार्य के उपदेश से ही परमात्मज्ञान हो सकता है।

अपने पुरुषोत्तम स्वरूप को जानने वाला पुरुष बुद्धिमान् बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस ज्ञान के पश्चात् वह जीवन में वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझने में और कर्म से संबंधित निर्णय लेने में त्रुटि नहीं करता है। फलस्वरूप वह न स्वयं के लिये भ्रम और दुख उत्पन्न करता है और न ही समाज के अन्य व्यक्तियों के लिये। परमात्मा के ज्ञान का फल है कृतकृत्यता। मन में पूर्ण सन्तोष का वह भाव, जो जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर उदय होता है, कृतकृत्यता कहलाता है। तत्पश्चात् उस व्यक्ति के लिये न कोई प्राप्तव्य शेष रहता है और न कोई कर्तव्य। यहाँ इस व्यक्ति के बुद्ध शब्द प्रयोग किया है, कि इस ज्ञान की प्राप्ति से वह बुद्ध हो जाता है।

परब्रह का ज्ञान होने से पन्द्रहवां अघ्याय एक शास्त्र के बराबर माना गया है, इसलिये इस अध्याय को शास्त्रों के श्रेष्ठम अध्यायों में एक माना गया। परब्रह के ज्ञान के बाद कुछ भी जानने को शेष नही रहता। इसलिये गीता में निष्काम कर्मयोग से ज्ञान और फिर परब्रह का ज्ञान एवम मोक्ष ही अंतिम लक्ष्य है, इसलिये निष्काम कर्मयोग द्वारा इस को प्राप्त होना, ज्ञान होना एवम कर्तव्य धर्म की अन्य प्रकार से समाप्ति नही हो सकती।

गीता में भी पंद्रहवे अध्याय के बाद आगे के अध्यायों में अध्याय 2 से 15 तक बताए हुए, कुछ संक्षिप्त वर्णन का ही स्पष्टीकरण ही है, किन्तु ज्ञान का अंतिम अध्याय 15 ही माना गया है।

यह अध्याय स्पष्ट भी करता है कि गीता का ज्ञान उन्ही लोगो के लिये है, जो शुद्ध अन्तःकरण से श्रद्धा एवम विश्वास के साथ, निष्पाप हो कर निष्काम कर्मयोग करते हुए मुक्त अर्थात मोक्ष को प्राप्त करना चाहते है। गीता उन के लिये नही है जो अज्ञान ने रहते हुए, अपने को ज्ञानी मानते है एवम बिना अभ्यास किये, समझे एवम आत्मसात किये, निष्पाप एवम शुद्ध हुए गीता पढ़ कर, तर्क या कुतर्क द्वारा गीता की अवेहलना करते है।

संवाद में वक्ता और श्रोता में अंतर ज्ञान एवम शब्दो के अर्थ का होता है। इसलिए वक्ता जिस अर्थ, विचार और हेतु के लिए कहता है, वह श्रोता उस का अर्थ अपने ज्ञान के अनुसार, अपने विचारो के अनुसार और अपने हेतु के अनुसार ग्रहण करता है। जब तक श्रोता में भक्ति भाव अर्थात समर्पण, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास वक्ता के प्रति नही होगा, वह वक्ता से सुने हुए ज्ञान की तुलना अपने स्वार्थ, अहम और लालसा में करेगा। इसलिए यह गुह्यतम ज्ञान चलते फिरते हर व्यक्ति को नही देना चाहिए। योग्य व्यक्ति के लिए अर्जुन को अनघ कहा है जिस का अर्थ है जो सभी प्रकार के पाप रहित, निषिद्ध कार्य से मुक्त, सदाचारी, शुद्ध, निर्मल, और सात्विक आचरण से युक्त हो।

किसी भी डिग्री या उपाधि का अधिकारी वही व्यक्ति है जो उस श्रेणी का ज्ञान या योग्यता रखता हो। व्यवहारिक जीवन मे अयोग्य व्यक्ति अपने अहम एवम अज्ञान में बिना योग्यता रखे बहस करते है एवम ज्ञानी पुरुषों का अपमान करते है। उन के अहम, योग्यता, आचरण, कामना या धर्म भिन्न होने के कारण एवम अहंकार होने से उन्हें अच्छी या ज्ञान की बाते समझ नही आती क्योंकि उन्होंने अपने आप को बद्ध कर दिया है। अर्जुन जब तक पूर्णतयः शिष्यत्व स्वीकार कर के सुनने को तैयार नही हुआ, भगवान श्री कृष्ण ने उसे भी यह ज्ञान नहीं दिया। क्योंकि जब तक व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षा में बंधा है उस का हश्र भी यह ज्ञान सुन कर धृष्टराष्ट्र जैसा ही होता है। जिस को जिस पर विश्वास होता है, वो उस की बात मानता है, इसलिये यदि किसी गलत व्यक्ति पर विस्वास कर के कार्य किया जाए तो परिणाम दुर्योधन जैसा ही होगा क्योंकि उस का विश्वास शकुनि पर था।

पुरुषोत्तम योग ज्ञान का अंतिम अध्याय भी है, इसलिए अंतिम श्लोक में इति और इदम शब्द और शास्त्र के गुह्यतम ज्ञान को बता कर इस अध्याय को समाप्त भी लिया है।

।। हरि ॐ तत सत।। 15.20।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ अध्यायः १५ सारांश॥

||ōṃ tatsaditi śrīmadbhagavadgītāsūpaniṣatsu brahmavidyāyāṃ yōgaśāstrē śrīkṛṣṇārjunasaṃvādē

bhaktiyōgō nāma dvādaśō'dhyāyaḥ||

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

Meaning:

Thus ends the twelfth chapter named Bhakti Yōga in Srimad- bhagavad Gītā which is

the essence of the Upaniṣads, which deals with Brahman- knowledge as well as the preparatory disciplines, and which is in the form of a dialogue between Lord Krishna

and Arjuna.

भावार्थ :

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण–अर्जुन संवाद में पुरुषोत्तम–योग नाम का पंद्रहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

Summary of Bhagvad Gita Chapter 15:

The fifteenth chapter of the Bhagavad Gita is unique in several respects. It is the shortest, with only twenty shlokas. On the other hand, it summarizes the entire essence of not just the Gita but also all the Vedas in those twenty shlokas. Specifically, it covers four topics that are at the essence of any spiritual scripture: what is the world, who am I, what is God or what transcends the world and me, and what is the relationship between me, the world and God.

The chapter first addresses the nature of the world. Our existence in this world is illustrated using an upside down tree, similar to a family tree. The root of this tree is Ishvara wielding the power of Prakriti, the saguna brahman, the eternal essence with attributes. Samsaara, our existence on this world, is the outward growth of this tree. This growth is fueled by sense objects which are in the form of sprouts or buds. Each sense object generates desires, which generates actions, which bind us to the branches of the tree.

The only way to rid ourselves of this endless cycle of desire and action is to cut the tree using the weapon of dispassion. The best way to cultivate dispassion is to go straight to the source of the tree, to take refuge in Ishvara. A seeker who wants to do so needs a list of qualifications such as freedom from pride and delusion. Only then will the seeker reach the abode of Ishvara, which is the state of self realization and liberation.

Next, the chapter addresses the state of the jeeva, the individual soul, the “I”. From an absolute standpoint, there is one eternal essence, one consciousness, one self, one "I". But just like space seems like it is divided into many through walls, this eternal essence is as though divided into multiple "I"’s through apparent limitations or upaadhis.

By attaching itself to upaadhis of the mind and the sense organs, an illusory self is created that imagines itself to be the jeeva, the individual soul. It takes up a new human body to exhaust the desires in its mind, but unfortunately picks up new desires and takes up yet another human body once the old one ceases to function. Only those individuals who have the eye of wisdom, who have

assimilated the teaching of the scriptures after purifying themselves with karma and bhakti yoga, recognize the non-divided nature of the self. All others are living in delusion.

The third topic, the nature of God or Ishvara, is taken up next. We learn that Ishvara is not some remote figure, but pervades every aspect of the universe. Ishvara provides awareness or the faculty to know. He provides energy through the sun, the moon and fire. This energy is circulated throughout the universe in the form of Soma or nectar, and also used for medicinal purposes. Metabolism, the faculty to extract energy from this food in the form of Soma, is manifested through Ishvara as the Vaishvaanara fire. Ultimately, all memory and knowledge is possible through Ishvara who is resides in the hearts (intellect) of everyone.

The fourth topic deals with relationship between the individual, the world, and God. If we trace the energy source of a tiny mango sapling, and of a 100 megawatt solar power plant, we reach the same source - the sun. Similarly, if we mentally remove the apparent limitations, the upaadhis, the names and forms behind the individual, the world and of Ishvara, we find the foremost person, the Purushottama, the pure unadulterated eternal essence. It is beyond the perishable visible world and the imperishable seed of the visible world which is Prakriti.

In other words, we learn that the "I" in us is the "I" in everyone, the self of all.

।। सारांश ।। अध्याय पन्द्रह ।।

अध्याय पंद्रह का ज्ञान महृषि व्यास जी द्वारा लेखनबद्ध करने से सुलभ उपलब्ध हो गया। किन्तु यह महान, गुप्तज्ञान का प्रत्येक व्यक्ति पात्र नही है, क्योंकि यह साक्षात परब्रह या पुरुषोत्तम का ज्ञान है।

ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के विषय मे ऐसा माना जाता है कि वह भगवान विष्णु की नाभि से निकले नाल से ऊपर खिले कमल के पुष्प पर हुई थी। ब्रह्मा जी को जिज्ञासा हुई कि वो अपनी उत्पत्ति को देखे, इसलिये उन्होंने नाल में प्रवेश किया किन्तु गहरे से गहरे जाने पर भी उन्हें आदि स्थल का पता नही चला, फिर हार कर वह कमल पर आसन हो ध्यानस्थ हो गए। ध्यान होते है उन्हें अपने ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान हो गया। अपने आदि को जानना कामना है। कमल का फूल निःसंग होने का प्रतीक के क्योंकि कमल कीचड़ में उत्पन्न होने के बाद भी उस पर जल की बूंद भी नही ठहरती। अतः कामना त्याग कर, निःसंग हो कर यदि कोई परब्रह का ध्यान करे तो उसे अपने और परब्रह का ज्ञान होता है।

ब्रह्मा एक प्रतीक है। योग साधना की एक परिपक्व अवस्था मे इस स्थिति की जागृति है। ईश्वर की ओर उन्मुख ब्रह्म विद्या से संयुक्त बुद्धि ही ब्रह्मा है। बुद्धि जब तक इधर उधर ढूंढती है, तब तक नही पाती और जब वही

बुद्धि निर्मलता के आसन पर आसीन हो कर मन सहित इंद्रियाओ को समेट कर हृदय देश मे निरोध कर लेती है, उस निरोध के भी विलीनीकरण की अवस्था मे अपने ही हृदय में परमात्मा को पा लेती है। परमात्मा की खोज में अपने मूलतत्व की खोज में सिर्फ भटकन ही है, अतः ज्ञान प्राप्त कर के निष्काम कर्म द्वारा ही निःसंग हो कर उस को संसार वृक्ष को त्याग कर ही प्राप्त किया जा सकता है।

अध्याय का प्रारंभ अश्वत्त्व नाम के वृक्ष से किया है, जिसे संसार वृक्ष की संज्ञा दी गई है। इस का मूल ऊपर एवम पल्लव नीचे है। जीव प्रकृति के साथ इस मे मोह, कामना एवम आसक्ति के साथ है। वेद रूप में पल्लव ज्ञान है किंतु कामना एवम आसक्त होने से जीव मृत्यु लोक से ले कर ब्रह्मलोक तक इसी वृक्ष में भटकता रहता है, यह संसार रूपी वृक्ष इतना बड़ा है कि इस का आदि, अंत एवम मध्य का पता नही। इस वृक्ष से बाहर आने का एक ही मार्ग है, निःसंग, निष्काम एवम ज्ञान द्वारा इस को त्याग कर अपने ब्रह्म स्वरूप को जानना।

परमात्मा ने अपने ब्रह्मस्वरूप को क्षेत्र या भौतिक स्वरूप से तुलनात्मक करते हुए स्पष्ट किया कि प्रकृति की सब रचनाओं का मूल वह ही है। वह ही सूर्य का प्रकाश एवम तेज, चंद्रमा का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश एवम तेज, पृथ्वी द्वारा समस्त जीव को धारण एवम पोषण तथा प्रत्येक जीव का प्राण एवम वायु का आधार एवम पाचन द्वारा उस के जीवन का आधार वही है।

इस प्रकार ज्ञानात्मक , द्रव्यात्मक, गुणात्मक एवम क्रियात्मक जितना कुछ भी तेज है, उस विद्यमान परमात्मा ही है।

परमात्मा ही ज्ञान अर्थात वेदवित्त है, वो ही स्मृति, विस्मृति है, इस लिये जिस ने ज्ञान को जान लिया उस ने ही संसार वृक्ष को काट कर अपने को निःसंग कर लिया।

वह ही क्षेत्र, क्षेत्रय एवम उस से ऊपर परमात्मा भी है। उस को जानने वाला निःसंग, निष्पाप एवम ज्ञानी ही हो सकता है। यद्यपि यह ज्ञान पुस्तको में प्रवचन में एवम भाष्य में कोई भी पढ़ सकता है किंतु जो इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह ही ब्रह्मस्वरुप होता है वह ही ब्रह्मास्मि कहने का अधिकारी है। वह ही परब्रह के स्वरूप को जानने योग्य है।

जीव प्रकृति से संग अज्ञान में अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है, इसलिए शरीर के नष्ट होने को मृत्यु कहता है। वास्तव में प्रकृति और पुरुष अर्थात क्षर और अक्षर जीव पृथक पृथक है। क्षर शरीर अपनी छः गति में जन्म ले कर मृत्यु को प्राप्त होता है और अक्षर शरीर अपने कर्मफलो, संस्कारों आदि को ले कर अन्य योनि में अपने अंतिम समय के भाव के आधार पर नए शरीर में प्रविष्ट करता है और कर्मफलो को भोगता है।

इस प्रकार संसार में दो ही पुरुष होते है, एक व्यक्त रूप सर्वभुत जिस की उत्पति और नाश होता है, उसे क्षर पुरुष कहते है और द्वितीय अव्यक्त पुरुष अर्थात माया जिस का नाश नहीं होता। यह सिद्धांत सांख्य के प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर ज्ञान और क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का आधार भी है।

इस क्षर और अक्षर पुरुष से भी परे उत्तम पुरुष है जो क्षर एवम अक्षर दोनो को धारण करता है, निसंग, नित्य है, जिसे परमात्मा भी कहा गया है।

श्लोक 18 में भगवान श्री कृष्ण अपने परमात्मा स्वरूप को स्वीकार करते हुए, स्वयं को पुरुषोत्तम कहते है, अज्ञानी परमात्मा स्वरूप श्री कृष्ण के इस कथन को नहीं समझ सकते और सगुण कृष्ण की तुलना अन्य अवतारों से करते हुए, प्रश्न चिन्ह लगाते है, कि क्या भगवान कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सगुण स्वरूप परमात्मा नही है? यह अज्ञान इसलिए होता है, क्योंकि धृतराष्ट्र की भांति वे भी सगुण कृष्ण को नही पहचान पाते है। जो भी परमात्मा तत्त्व को धारण करता है, उसे जानता है, जो ज्ञानी है वह ही उत्तम पुरुष है, वह ही परमात्मा है। युद्ध भूमि में इस ज्ञान को देने वाले कृष्ण इस आशय से अपने स्वरूप को वर्णित करते है। सगुण परमात्मा भक्ति के, संसार में धर्म की रक्षा के लिए, संसार में अत्याचारियों का वर्चस्व की समाप्ति आदि के लिए समय समय पर प्रकट होते है किंतु निर्गुण, अव्यक्त, नित्य, सूक्ष्म परमात्मा एक ही है। विभिन्न मतों, संप्रदाय, धर्मों में इस सगुण परमात्मा को ले कर विभाजन है, किंतु तत्व ज्ञानी ही जानता है कि विभाजन की यह रेखा अज्ञान है।

यह संसार परब्रह के संकल्प से शुरु हुआ, इसलिये पूर्ण अज्ञान ही है, जो इस अज्ञान में है वह इस संसार मे ही जन्म मरण के चक्रव्यूह में फंसा रहता है, जो जान जाता है, वो ही परब्रह रूपी अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। परब्रह में पुरुषोत्तम स्वरूप का ज्ञान उत्तम व्यक्ति जो निष्पाप हो, को ही देने योग्य है। गीता का ज्ञान का यह अंतिम चरण है क्योंकि पुरुषोत्तम योग से बढ़ कर कुछ भी ज्ञान, है ही नही।

।। हरि ॐ तत सत ।। सारांश 15 ।।

==========